आशीर्वाद

संपादक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
(सुधा-संपादक)

श्रेष्ठ उपन्यास-कहानियाँ

विराटा की पद्मिनी (छप रही है)	२॥), ३)	सीधे पंडित	१॥)
गढ़-कुंडार	२॥), ३)	अबला	१), १॥)
कुंडली-चक्र	१।), १॥।)	मधुपर्क	१॥), २)
प्रेम की भेंट	१), १॥)	मा (दो भाग)	३), ४)
कोतवाल की करामात	१), १॥)	कर्म-मार्ग	१॥), २)
रंगभूमि (दोनो भाग)	५), ६)	केन	१), १॥)
बहता हुआ फूल	२॥), ३)	अप्सरा	१), १॥)
हृदय की परख	१), १॥)	गिरिबाला	१), १॥)
चित्रशाला (दो भाग)	३), ४)	कर्म-फल	१॥।), २।)
हृदय की प्यास	१॥), २)	तूलिका	१।), १॥)
मिस्टर व्यास की कथा	२॥), ३)	अश्रुपात	१), १॥)
नंदन-निकुंज	॥।), १)	जासूस की डाली	१॥), २)
प्रेम-प्रसून (प्रेमचंद)	१=), १॥=)	विचित्र योगी	१), १॥)
प्रेम-पंचमी ,,	॥), १)	पवित्र पापी	३), ३॥)
प्रेम-गंगा	१), १॥)	गोरी	१), १॥)
मंजरी	१।), १॥।)	पाप की ओर	१), १॥)
पतन	१॥), २।)	भाग्य	१), १॥)
जब सूर्योदय होगा	१), १॥)	अछूत	१), १॥)
विदा	२॥), ३)	अलका	१।), १॥।)
भाई	१), १॥)	प्रवास का ब्याह	१), १॥)
प्रेम-परीक्षा	॥।=), १।=)	खिली	१), १॥)

हिंदुस्थान-भर की पुस्तकें मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार, ३६ लाटूश रोड, लखनऊ

गंगा-पुस्तकमाला का १२२वाँ पुष्प

आशीर्वाद

[कहानी-संग्रह]

लेखक

श्रीप्रतापनारायण श्रीवास्तव

बी० ए०, एल्-एल्० बी०

'विदा' और 'पाप की ओर' के लेखक

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३६, लाटूश रोड

लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द १॥)] सं० १६६० वि० [सादी १)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

विद्वद्वर श्रीमान् ठाकुर चैनसिंहजी साहब
एम्० ए०, एल्-एल्० बी०

जुडीशल मिनिस्टर, मारवाड़-गवर्नमेंट

तथा

ठाकुर साहब ठिकाना पोकरन

के

कर-कमलों में

कृतज्ञता-स्वरूप सादर समर्पित

निवेदन

श्रीयुत प्रतापनारायणजी जब यहाँ लखनऊ-विश्वविद्यालय में पढ़ते थे, और हमारे पास अपने 'विदा'-उपन्यास को प्रकाशनार्थ लेकर आए थे, तभी हमने समझ लिया था कि यह अपनी प्रतिभा के बल पर हिंदी-संसार में अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त करेंगे। हर्ष की बात है, उनका वह उपन्यास हिंदी-संसार में हाथों हाथ बिक गया, और अब उसका दूसरा संस्करण छप रहा है। उपन्यास के अलावा ललित कहानियाँ लिखने में भी प्रतापनारायणजी पटु हैं। हमने उनकी अनेक श्रेष्ठ कहानियाँ सुधा में छापी हैं। अब आज उनकी ९ सुंदर कहानियों को हम पुस्तकाकार छाप रहे हैं। आशा है, हिंदी-भाषा-भाषी भाई 'विदा' की तरह ही इस पुस्तक को भी अपनावेंगे, जिसमें उत्साहित होकर उनका दूसरा कहानी-संग्रह भी हम जल्द ही निकालें।

लखनऊ
१-७-३१

दुलारेलाल भार्गव

सूची

आशीर्वाद

(१)

भिखारिनी के नेत्र डबडबा आए, और उसने अपना मुख फेर लिया। गालों पर घृणा की लालिमा दौड़ गई, और आहत अभिमान तड़पने लगा। युवक-मंडली खिलखिला-कर हँस पड़ी।

भिखारिनी ने फिर उनकी ओर न देखा। वह आगे बढ़ी। किंतु शहर के बदमाश युवकों ने उसका पीछा न छोड़ा। उनमें से एक ने कहा—"ले, पैसा लिए जा।"

भिखारिनी ने पीछे फिरकर भी न देखा। युवक उसकी ओर दौड़ा।

अब मैं बरदाश्त न कर सका। अभी तक जो देखा, वही किसी को उत्तेजित कर देने के लिये पर्याप्त था। लेकिन अब तक तो किसी तरह सहन कर रहा था। अकेले यहाँ बचा लेने से भी क्या होगा? भिखारिनी जहाँ जायगी, वहीं उसका अपमान होगा। भिखारिनी का रूप ही उसका शत्रु हो रहा था। भगवान् ने क्या रूप भीख माँगने के लिये ही दिया था?

किंतु अब बात सहन-सीमा के बाहर हो गई थी। भिखारिनी की मर्माहत दृष्टि अब भी मेरे हृदय में चुभी हुई थी। उसके नेत्रों की कातर प्रार्थना अभी तक ज्यों-की-त्यों हृदय पर अंकित थी। मैं अपने को भूल गया। अपनी स्थिति भूल गया। स्थान, काल सब भूल गया, और दौड़कर उस युवक का हाथ पकड़ लिया। युवक झिझका, और ठहर गया। उसने हाथ छुड़ाते हुए कहा—"मेरा हाथ छोड़ दो, मैंने क्या किया है ?"

मैंने चौराहे पर खड़े पुलिस सिपाही को बुलाते हुए कहा—"पुलिस के हवाले करने के बाद कहूँगा कि तुमने क्या किया है। बदमाश, एक भिखारिन ग़रीब औरत को छेड़ता है।"

युवक—"मैंने उसे छेड़ा ? मैं तो उसे पैसा देने जा रहा था। मेरे साथी उससे ज़रूर मज़ाक़ कर रहे थे। मैंने उससे कुछ नहीं कहा। आप उससे पूछ सकते हैं।"

कापुरुष काँपने लगा। उसके साथी पास की गलियों में ग़ायब होने लगे। पुलिसवाला तेजी से आ रहा था। भिखारिनी ठिठकी खड़ी थी।

युवक गिड़गिड़ाने लगा। इधर-उधर के आदमी भी आकर जमा हो गए। लखनऊ चौक के क़रीब बात-की-बात में भीड़ इकट्ठा हो जाना कुछ मुश्किल बात नहीं है।

युवक—"साहब, मुझे छोड़ दें, आप उस भिखारिन

से पूछ लें। मैंने उसे नहीं छेड़ा। रसूल पैग़ंबर की क़सम है, मैंने कोई बेअदबी नहीं की।"

दर्शकों में से एक ने कहा—"हुज़ूर, छोड़ दें। ग़रीब को सताने से फ़ायदा?"

मैं—"यह बदमाश ग़रीब औरतों की बेइज़्ज़ती करता है, छोड़ कैसे दें?"

दूसरा दर्शक—"आप भिखारिन से ख़ुद पूछ लीजिए, अगर वह कहे कि इसने कुछ गुस्ताख़ी की है, तब इसको पुलिस के हवाले कीजिए, वरना छोड़ दें। इंसाफ़ होना चाहिए।"

मैंने डपटकर कहा—"चुप रहो, मैंने अपनी आँखों से देखा है, यह शख़्स बराबर उसे छेड़ रहा था।"

पुलिस का सिपाही पास आ पहुँचा। युवक काँपने लगा।

इतने ही में पूर्व-परिचित मीठे स्वर ने कहा—"साहब, इसको छोड़ दें, मेरे कहने से छोड़ दें।"

मैंने देखा, भिखारिन सामने खड़ी थी। उसके मुख पर करुणा, दया और क्षमा की छाप थी। उसके नेत्रों में अब भी आँसू भरे हुए थे। शायद वे क्षमा के थे।

मैंने भिखारिनी से पूछा—"मा, क्या इसने तुम्हारा अपमान नहीं किया?"

भिखारिनी—"मैं पहचानती नहीं। मैं ठीक नहीं कह सकती।

किया होगा। मैं क्षमा करती हूँ। अनाथों की रक्षा भगवान् करते हैं। संसार मेरा अपमान करता है। अपमान को देखूँ, तो खाऊँ क्या ? मैं नहीं जानती कि यह मुसलमान हैं, नहीं तो मैं इनसे कुछ न माँगती। अभी लड़कपन है। जब बड़े होंगे, तब सब समझने लगेंगे। आप मेरी वजह से इन्हें पुलिस के हवाले न करें, नहीं तो इनके माता-पिता को कष्ट होगा। मा का हृदय रोएगा, और उसका शाप मेरे ऊपर जायगा। आप छोड़ दीजिए।"

भिखारिनी के नेत्रों से आँसू ढलकने लगे। मैं अवाक् था। भिखारिनी के शब्द अब भी मेरे कानों में गूँज रहे थे। उसकी मँजी हुई ज़बान और उसका महान् हृदय उसे साधारण भिखारियों की श्रेणी से अलग कर रहे थे। युवक लज्जित होकर पृथ्वी की ओर देख रहा था।

युवक किसी स्कूल का विद्यार्थी विदित होता था। उसने मेरी ओर देखते हुए कहा—"वाक़ई मैं अपनी ग़लती पर नादिम हूँ। मुझे मुआफ़ कीजिए। आज से हर्गिज़ किसी को न सताऊँगा। पाक क़ुरआन की क़सम खाकर हज़ार दफ़े तौबा करता हूँ।"

पुलिसवाले ने सलाम करते हुए कहा—"क्या मामला है हुज़ूर ?"

मैं अब बड़े असमंजस में पड़ा। मैंने अपने हृदय से प्रश्न किया—"क्या युवक को छोड़ दूँ ?"

हृदय ने कहा—"छोड़ दो। युवक अपना अपराध स्वीकार करता है। इतनी सज़ा बहुत है।"

युवक का हाथ छोड़ते हुए मैंने कहा—"जाओ!"

इसी समय पुलिस-सब-इंस्पेक्टर बाबू करमचंद भी आ गए। मुझे देखते ही बड़े तपाक से सलाम किया, और पूछा—"क्या मामला है, डॉक्टर साहब!"

मैंने आदि से अंत तक सारा मामला कह दिया, और कहा—"आप इसका सब पता, नाम वग़ैरह दर्याफ़्त कर लें, ताकि आयंदा अगर ज़रूरत पड़े, तो काम आवे।"

मिस्टर करमचंद उससे नाम वग़ैरह पूछने लगे। पुलिस-इंस्पेक्टर को देखते ही भीड़ खिसकने लगी थी। मैं भी भीड़ से बाहर निकला। एक ताँगे पर बैठते हुए कहा—"मि० करमचंद, अब मैं जाता हूँ।"

मि० करमचंद—"जाइए, आपकी 'कार' कहाँ है?"

मैं—"रास्ते में कार बिगड़ गई थी, उसे बनवाने के लिये भेजा है। आपने नाम वग़ैरह सब पूछ लिया?"

मि० करमचंद—"जी हाँ। आप नवाबज़ादे हैं।"

मैं—"आजकल के ज़माने में नवाबज़ादे ही ऐसी नाजायज़ हरकतें किया करते हैं।"

मि० करमचंद ने फिर सलाम किया। मैंने सलाम का जवाब देकर ताँगा बढ़ाने को कहा। ताँगा आगे बढ़ा। थोड़ी दूर पर वही भिखारिनी खड़ी थी। मैंने ताँगा रोकने को

कहा। ताँगा ठहर गया। जेब से एक रुपया निकालते हुए कहा—"मा, यह लो। आज से अगर कोई तुम्हें तंग करे, तो फ़ौरन् पुलिस से कहो।"

भिखारिनी ने कृतज्ञ दृष्टि से मेरी ओर देखा। वह दृष्टि मैं अभी तक नहीं भूल सका हूँ। उसकी नज़रों में कैसी दीनता थी! कैसा भोलापन था! कैसा दर्द था! मैं नहीं समझता, कैसे लोग उस ग़रीब को छेड़ने का साहस करते थे। उसमें सौंदर्य था, लेकिन उसमें वह सादगी थी, जो हृदय में भक्ति उत्पन्न करती थी। उसके मुख पर वह करुणा थी, जो दिल में दर्द पैदा करती थी। उसके मुख से एक छिपी आह बाहर निकल रही थी, जिसको देखकर हृदय आप-से-आप द्रवीभूत हो जाता था। उसकी झिझक, उसकी भाषा, उसका असाधारण वेष, सब उसे साधारण भिखमंगों की कोटि से पृथक् कर रहे थे। साफ़ ज़ाहिर होता था कि दरिद्रता की कृपा से मजबूरन् उसे यह पेशा अख्तियार करना पड़ा था। मेरे हृदय में आया कि मैं उसका पता-ठिकाना सब पूछ लूँ। उसके रहने का प्रबंध कर दूँ, लेकिन वह वक़्त पूछने का नहीं था। संसार क्या समझेगा? संसार क्या जानेगा, मैं यह सब क्यों पूछता हूँ? वह तो पाप लगावेगा। पापमय संसार में पाप के अतिरिक्त क्या और किसी अन्य वस्तु की आशा की जा सकती है?

भिखारिनी ने कुछ नहीं कहा। उसने अपने मन का

भाव शब्दों द्वारा नहीं प्रकट किया। उसने झिझकते हुए हाथ से रुपया ले लिया और करुण कृतज्ञ-दृष्टि से मेरी ओर देखा। मेरा सिर आप-से-आप नीचा हो गया। मैंने ताँगेवाले से कुछ नहीं कहा, लेकिन उसने ताँगा बढ़ा दिया। हजरत-गंज की ठंडी हवा ने मेरे विचारों को कुछ शांति दी। मैंने अपने मन से प्रश्न किया—"क्यों, भला वह कौन थी?"

मन ने उत्तर दिया—"एक साधारण भिखारिनी।"

(२)

महीनों बीत गए। मैंने फिर उस भिखारिनी को नहीं देखा। उसको ढूँढ़ने के लिये कई बार शहर में घूमने गया, लेकिन कहीं भी उसका पता नहीं लगा। मैंने अपनी स्त्री से भी उस दिन का सब हाल कहा था। उसके कोमल हृदय पर भी प्रभाव पड़ा। उसने कई बार स्वयं पूछा—"कहो, कुछ पता लगा?" मैं सदैव यही कहता—"अभी तक तो नहीं लगा। यह भी नहीं जानता कि वह लखनऊ में है, या चली गई। जहाँ तक मैं समझता हूँ, शायद चली ही गई। लखनऊ-ऐसी भद्दी जगह में उसका गुजारा नहीं था।"

धीरे-धीरे एक साल बीत गया। भिखारिनी का अब भी कुछ पता न था। एक दिन मैंने मि० करमचंद को भी बुलाकर उसका पता लगाने को कहा। पहले मि० करमचंद ने मेरी ओर हँसती हुई नजरों से देखा। मैं उनका आशय समझ गया।

मैंने उनसे कहा—"मि० करमचंद, क्या आप मेरे बारे में किसी बात की शंका करते हैं ?"

मि० करमचंद ने कहा—"नहीं डॉक्टर साहब, यह बात नहीं है। मैं जानता हूँ कि आपकी नियत साफ़ है, लेकिन मैं हँसा सिर्फ़ इसलिये कि आपने अभी दुनिया नहीं देखी। कौन कह सकता है कि यह भिखारिन कैसी थी ? कौन जाने, वह अब तक किसी छज्जे पर बैठने लगी हो ? जिसकी आप तलाश करना चाहते हैं, वह आराम से ऐश करती हो ? उसके रूप का क्या कुछ मूल्य ही नहीं था ? उसके पाने के लिये तो लोग हज़ारों रुपए ख़र्च करने को तैयार होंगे।"

मैंने उनकी बात काटकर क़हा—"मि० करमचंद, मुझे विश्वास नहीं होता कि वह नीचे गिर जायगी। अगर उसे यही करना होता, तो भीख क्यों माँगती ?"

मि० करमचंद—"भीख माँगते-माँगते उसकी आत्मा की महत्ता नष्ट हो गई होगी। माँगना सबसे बड़ा पाप है। इसके अलावा जहाँ वह जाती होगी, वहीं पर लोग उसे छेड़ते होंगे। उसे ज़रूर मालूम हो गया होगा कि मैं सुंदरी हूँ, तभी तो संसार मेरी ख़्वाहिश करता है। इतनी जानकारी ही पाप-मार्ग की ओर घसीटती है। जहाँ मनुष्य को मालूम हुआ कि मैं सुंदर हूँ, वह पाप की ओर बढ़ने लगता है। वहीं से उसका पतन आरंभ होता है। Arch Bishop

Whately ने कहा है—'Honesty is the best policy but who works upon that principle is not an honest man.' (ईमानदारी सबसे अच्छा गुण है, लेकिन जो मनुष्य इस ध्येय पर काम करता है, वह ईमानदार मनुष्य नहीं है)।"

मैं—"हाँ, लेकिन यह सबके विषय में लागू नहीं हो सकता। भिखारिनी में एक खास बात थी। वह क्या थी, मैं नहीं कह सकता—लेकिन एक असाधारण बात था, जो आपकी बात न मानने के लिये मुझे बाध्य करती है।"

मि० करमचंद—"आप मेरी बातों से यह कदापि न समझिए कि वह उस नीचे गड्ढे में गिर गई है, जिसको हम लोग चरित्र-हीनता कहते हैं; मेरा मतलब सिर्फ़ यही था कि ऐसा होना कोई असंभव बात नहीं है। आजकल के ज़माने में कौन उसे भीख देगा? उसके पास रूप था, यौवन था, वह उसे सहज ही बेच सकती थी, और फिर लखनऊ में वेश्याओं ने जो जाल फैला रक्खा है, उससे बचकर निकल जाना, उनके प्रलोभनों में न आना, अवश्य एक असाधारण बात होगी। क्या चौक की वेश्याओं ने उसे अपने पेशे के प्रलोभन न दिए होंगे? कौन कह सकता है कि वह उन प्रलोभनों में नहीं फँस गई?"

मैं—"मि० करमचंद, आप बड़े निराशावादी मालूम होते हैं!"

मि० करमचंद—"मैं निराशावादी नहीं हूँ, लेकिन हर बात को हर सिम्त देखता हूँ।"

मैं—"लेकिन मैं कहता हूँ, वह भिखारिनी कदापि इतने नीचे नहीं गिर सकती। मुमकिन , वह गोमती में डूब मरी हो, लेकिन वेश्या-वृत्ति कभी अवलंबन नहीं कर सकती।

मि० करमचंद—"ईश्वर करे, आपकी बात सच हो। मैंने लखनऊ का एक-एक छज्जा देख लिया है, लेकिन उसको अभी तक नहीं देखा। डॉक्टर साहब, वाक़ई मैं भी उस दिन से ही उससे मिलने के लिये इच्छुक हूँ। उसकी भोली दृष्टि अभी तक मेरे दिल में चुभी हुई है। मैंने उस दिन से फिर उसे लखनऊ में नहीं देखा। मैंने साल-भर उसकी खोज की, लेकिन उसे नहीं पाया। मुझे विश्वास है कि वह लखनऊ छोड़कर चली गई।"

मैं—"मुझे भी यही मालूम होता है। वक़्त-बे-वक़्त मैंने लखनऊ की गलियाँ छानीं, लेकिन उसका पता नहीं पाया। सोचा कि बग़ैर आपकी सहायता के पता नहीं लगेगा, लेकिन आप भी साफ़ इनकार कर रहे हैं।"

मि० करमचंद—"मैं ख़ुद उसकी खोज में हूँ, जहाँ पता लगा, फ़ौरन् आपको इत्तिला दूँगा।" यह कहकर उन्होंने जाने की इच्छा प्रकट की।

मैं—"मि० करमचंद, मैं आपके शहर में थोड़े ही दिनों का मेहमान हूँ। जल्द ही मेरी बदली होनेवाली है।"

उन्होंने बैठते हुए कहा—"कहाँ जाइएगा ?"

मैं—"शायद मथुरा भेजा जाऊँ। मि० रायन छुट्टी पर जा रहे हैं, उन्हीं की जगह मैं भेजा जाऊँगा।"

मि० करमचंद—"आपके जाने से लखनऊ की बड़ी क्षति होगी।"

मैंने हँसते हुए कहा—"वाह ! लखनऊ की क्या क्षति होगी ?"

मि० करमचंद—"एक सहृदय व्यक्ति की।"

मैंने हँसते हुए उत्तर दिया—"वाह साहब ! आप क्या कम सहृदय हैं ? पुलिस में रहकर सहृदय होना अवश्य एक प्रशंसा-जनक बात है।"

मि० करमचंद—"अच्छा, जब आप मथुरा जा रहे हैं, तब शायद आपको उस भिखारिनी का पता लग जाय। मुमकिन है, वह किसी तीर्थ-स्थान में गई हो।"

मैं—"ईश्वर करे, ऐसा ही हो। अगर वहाँ पर उसकी कुछ भी ख़बर लगी, तो मैं फ़ौरन् आपको पत्र लिखूँगा।"

मि० करमचंद हाथ मिलाकर चले गए। मैं अपने कमरे में बैठा रहा। सोचने लगा—"क्या वास्तव में वह लखनऊ छोड़कर चली गई ? लेकिन मैं ही क्यों उससे मिलने के लिये इतना उतावला हूँ ? गई, तो जाने दो। मेरा क्या बिगड़ा ?"

इसी समय मेरी स्त्री ने आकर कहा—"क्यों, कुछ पता लगा ?"

मैं—"यह तो बताओ, तुम्हें क्यों इतनी उत्सुकता है ?"

मेरी स्त्री ने मुस्किराते हुए कहा—"क्योंकि उसके रूप ने तुम्हारा मन मोह लिया है।"

मैं चौंक पड़ा। मेरा हृदय धक से हो गया। अपनी स्त्री के मुख से यह बात सुनकर मुझे मालूम हुआ, शायद उसकी बात सच है। मैंने इसकी बात का उत्तर नहीं दिया। वह धीरे-धीरे मुस्किराती रही।

थोड़ी देर बाद उसने कहा—"मुझे तुम पर पूरा विश्वास है। क्या तुम नाराज़ हो गए?" मैंने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया, वैसे ही चुप बैठा रहा।

(३)

इस घटना को बीते एक वर्ष और हो गया। मैं आजकल मथुरा में हूँ। मि० रायन सिविल-सर्जन की जगह पर मैं आजकल कार्य करता हूँ। आजकल काम का इतना झंझट है कि ज़रा भी अवकाश नहीं मिलता। यद्यपि मैं रात-दिन काम में जुटा रहता हूँ, लेकिन अब तक उस भिखारिनी को नहीं भूल सका। उसकी आह-भरी चितवन ज्यों-की-त्यों हृदय-पटल पर अंकित है। जभी फ़ुरसत से बैठता हूँ, तभी उसका ख़याल आ जाता है। ज्यों-ज्यों उसको भूलने की चेष्टा करता हूँ, त्यों-त्यों उसका चित्र मेरे मन पर उज्ज्वल होता जाता है। अपनी स्त्री से मैं आजकल उसके संबंध में कुछ नहीं कहता। न कहने का कोई विशेष कारण नहीं था, लेकिन कहने का साहस न होता था। मुझे सदैव यही डर लगा

रहता था कि कहीं वह सचमुच समझने न लग जाय कि मेरा उस पर प्रेम है। मेरा हृदय यहाँ तक दुर्बल हो गया था कि कभी-कभी मुझे मालूम होता कि शायद वास्तव में मैं उसके रूप पर मुग्ध हूँ। अगर मुग्ध नहीं हूँ, तो उसकी याद क्यों नहीं भूलती? जीवन में सैकड़ों भिखारिनों को देखा है, लेकिन याद किसी की भी नहीं। इसी भिखारिनी की स्मृति क्यों इतनी सजग है? हृदय उत्तर देता उसकी असहाय दशा। किंतु मैंने तो उससे भी दीन दशा में लोगों को देखा है, फिर उनकी याद क्यों नहीं है? इसी भिखारिनी की याद क्यों अभी तक बनी है? हृदय उत्तर देता, क्योंकि आज तक तुमने एक असाधारण सुंदरी को भीख माँगते नहीं देखा, तुम्हारे जीवन में यह एक असाधारण घटना है, इसीलिये उसकी इतनी याद है। तो क्या वास्तव में मैं उसको उसके रूप के कारण ही याद करता हूँ? हृदय कहता—बेशक! तो क्या मैं उसके रूप पर मुग्ध हूँ? यह बात हृदय मानने के लिये तैयार न होता, किंतु ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, त्यों-त्यों मैं उसकी स्मृति जबरदस्ती भुलाने की कोशिश करता था। जहाँ उसकी याद आई, तुरंत अपनी स्त्री के पास जाकर उससे बातें करने लगता, और उसके भुलाने की चेष्टा करता। ऐसी बातों से मेरे हृदय की दुर्बलता का साफ़ पता चलता था, लेकिन क्या करता? इसके अतिरिक्त उसके भुलाने का तो और उपाय ही नहीं था।

संध्या हो गई थी। मैं अपने बँगले के बरामदे में बैठा हुआ सिगार पी रहा था। मेरी गोद में मेरा बड़ा लड़का अरुण बैठा हुआ खेल रहा था। मैं कुछ अन्यमनस्क था। बार-बार मैं उसको भुलाने का यत्न कर रहा था। अरुण मेरी जेब से बार-बार घड़ी निकालता, और बार-बार फिर जेब में डालता। जेब में कुछ पैसे भी पड़े थे। अरुण ने अब की बार बहुत-से रुपए-पैसे निकाल लिए। मैंने कहा—"अरुण, रुपए डाल दो, पैसे ले लो।"

अरुण ने कहा—"नहीं, मैं रुपए भी लूँगा, पैसे भी लूँगा।"

मैं—"क्यों, रुपए लेकर क्या करोगे ?"

अरुण—"रुपए और पैसे दोनों भिखारियों को दूँगा। बाबूजी, जब तुम चले जाते हो, तब बहुत-से भिखारी आते हैं। जब तुम रहते हो, तब कोई नहीं आता। क्यों बाबूजी, तुमसे क्या सब डरते हैं ?"

मैं—"सब कहाँ डरते हैं ? तुम तो नहीं डरते।"

अरुण ने मेरे चश्मे पर हाथ लगाते हुए कहा—"मैं क्यों डरूँ, तुम तो मेरे बाबूजी हो। तुम हमें कब मारते हो ? हाँ, अम्मा से डर मालूम होता है। वह कभी-कभी मार देती हैं। बाबूजी, क्या तुम भी अम्मा से डरते हो ? मैंने तो कभी अम्मा को तुम्हें मारते नहीं देखा, फिर तुम क्यों डरते हो ? तुम तो बड़े हो।"

अरुण की बातें सुनकर मैं अपनी हँसी रोक न सका।

मुझे हँसते देखकर अरुण सकुचा गया। मेरे हृदय पर अपना सिर रखते हुए बोला—"तुम क्यों हँसते हो बाबूजी, बहुत ज्यादा हँसना अच्छा नहीं होता। अम्मा ने कई दफ़ मना किया है।" मैंने अपनी हँसी रोकते हुए पूछा—"तुम्हें मना किया है कि हमें ?"

अरुण—"हाँ, भूल गया था। तुम तो बड़े हो। अच्छा बाबूजी, जब मैं बड़ा हो जाऊँगा, तब क्या अम्मा हमें भी न मारे-डाटेगी ?"

मैंने अरुण का मुख चूमते हुए कहा—"नहीं, तब न मारेगी।"

अरुण—"क्यों बाबूजी, यह भिखारी क्या बड़े ग़रीब हैं ? जैसे हम रहते हैं, क्या वे लोग वैसे नहीं रहते ?"

मैं—"नहीं, अगर उनके पास खाने को और रहने को हो, तो भीख क्यों माँगें।"

मुझे भिखारिनी का फिर ख़याल हो आया। आह ! उसे किसी तरह नहीं भूल सकता।

अरुण—"आज बाबूजी, एक भिखारिनी आई थी। उसके साथ एक अंधा आदमी था, और मेरे-जैसा छोटा लड़का था। वे दोनो गा-गाकर भीख माँग रहे थे। उन्हें देखकर मेरे जी में न-मालूम क्या होने लगा। मेरे पास पैसे न थे। अम्मा से माँगा, उन्होंने भी नहीं दिया। लेकिन मैंने उनसे कह दिया कि

शाम को आना, मैं बाबूजी से पैसे लेकर दूँगा। इस पर उसने मेरा चूमा ले लिया, और कहा—"बेटा, शाम को मैं न आ सकूँगी। कल आऊँगी या फिर कभी देना।" बाबूजी, उसकी बोली बड़ी मीठी थी, और वह बिलकुल अम्मा-जैसी थी।

मेरे सामने उसी भिखारिनी की मूर्ति थी। लेकिन मेरे मन में कुछ शंका थी। मैंने उस भिखारिनी को तो अकेले भीख माँगते देखा था। क्या यह वही है? नहीं, वह नहीं हो सकती। इस भिखारिनी के साथ तो एक अंधा व्यक्ति और एक लड़का है। यह दूसरी ही भिखारिनी है। कोई हो, मुझे क्या मतलब। वह मेरी कौन है, जो मैं उसको याद करूँ?

मैंने अरुण को अपनी गोद में बिठालते हुए कहा—"क्यों अरुण, तुमने उसे कल बुलाया है?"

अरुण—"हाँ, वह कल आएगी। बाबूजी, मैं उसे पैसे दूँगा। आज मुझे पैसे दिए जाओ। अम्मा मुझे पैसे नहीं देगी।"

मैंने अपनी जेब से एक रुपया निकालकर अरुण को दे दिया। क्या मैं भिखारिनी की स्मृति-मात्र पर ही रुपया दे रहा था? हृदय लज्जित हो गया।

अरुण रुपया पाकर प्रसन्न हो गया।

अरुण ने मेरी गोद से उतरते हुए कहा—"बाबूजी, लाओ। यह रुपया छिपाकर रख आऊँ, नहीं तो अम्मा ले लेगी, और फिर नहीं देगी, फिर कल भिखारिनी लौट जायगी।"

मैंने अरुण को गोद में बिठलाते हुए कहा—"अपनी जेब में डाल लो। तुम्हारी मा कैसे जानेगी ?"

अरुण—"अम्मा रोज़ मेरे कपड़ों को देखती है। परसों जो तुमने रुपया दिया था, वह मेरी जेब से निकाल लिया था, फिर नहीं दिया।"

मैं—"तुमने क्यों उसे लेने दिया ?"

अरुण—"मैं सो रहा था, तभी उसने निकाल लिया था। बाबूजी, अम्मा बड़ी चोर है।"

मैंने अरुण का मुख चूमते हुए कहा—"अपने से बड़ों को ऐसा नहीं कहते। तुम्हारी अम्मा चोर नहीं है। वह तुम्हारे लिये ही जमा करती है। तुम्हें कपड़ा बना देती है, तुम्हें मिठाई ले देती है।"

अरुण—"वह कहाँ मिठाई ले देती है! मिठाई तो तुम लाते हो।"

मैं—"जब वह पैसे देती है, तभी तो लाता हूँ।"

अरुण—"अपने पैसे तुम अपने पास क्यों नहीं रखते ? क्या तुमको भी पैसे अम्मा देती है ?"

मैं—"हाँ, घर की मालकिन तो तुम्हारी मा ही है। उसी के देने से मुझे भी मिलता है।"

अरुण चुप हो गया। मेरी स्त्री ने आकर कहा—"बाप-बेटों में क्या बातें हो रही हैं ? मेरी ही शिकायत होती होगी।"

मैं—"आपकी शिकायत तो नहीं होती, बल्कि बड़ाई होती है। तुम अरुण के पैसे क्यों छीन लेती हो?"

मेरी स्त्री ने कहा—"तुम अरुण को पैसे दे-देकर उसकी आदत बिगाड़ रहे हो। अगर रुपए फ़ालतू हों, तो कुछ मुझे दे दो।"

अरुण अपनी मा को देखते ही मेरी गोदी से उतरकर चला गया।

(४)

दूसरे दिन मैं आठ ही बजे अस्पताल चलने लगा। क्यों? इसका उत्तर नहीं दे सकता। रात्रि-भर मैं भिखारिनी के बारे ही में सोचता रहा। मन कहता कि यह वही है, लेकिन मैं मानने को तैयार न होता। मैं बराबर कहता कि वह नहीं है। वह कहाँ से आ जायगी? मन उत्तर देता—"क्यों नहीं आ सकती? वह भिखारिनी है, कभी यहाँ माँगती है, कभी वहाँ। संसार में भिखारी कभी एक जगह नहीं ठहरते। अगर वही घूमते-घूमते यहाँ आ गई हो, तो ताज्जुब क्या है।" रात्रि-भर मैं ऐसे ही विचारों में मग्न रहा।

आधी रात से अधिक समय बीत गया था। संसार निस्तब्ध था, लेकिन मेरी आँखों में नींद नहीं थी। मैं लेटा हुआ करवटें बदल रहा था। अकस्मात् मेरी स्त्री ने मुझसे पूछा—"क्यों, अभी तक क्या जाग रहे हो?" मैंने सो जाने का

बहाना किया। उसने फिर पूछा—"क्यों, बोलते क्यों नहीं ? अब आप सोने का बहाना करते हैं ! क्यों ? उसी भिखारिनी की याद हो रही है, इसी वजह से नींद नहीं आती !"

उसका यह व्यंग्य मेरे हृदय में तीर-सा चुभ गया। वास्तव में बात यही थी। मैं स्वयं नहीं कह सकता कि क्यों मैं उसके संबंध में इतना अधिक सोचता था। वह अपने पलंग पर से उठी, और मेरे पास आकर कहा—"बोलते क्यों नहीं ? मुझसे न बनो, मैं सब जानती हूँ।"

मैं आँखें बंद किए लेटा रहा। आँखें बंद होती न थीं। वे बार-बार खुलने का प्रयत्न करती थीं। वह मेरे मुँह की ओर देखने लगी। उसने मेरे मुँह के पास अपना मुख लाकर कहा—"देखो, भिखारिनी खड़ी है।"

मैंने एकदम से उसे अपने बाहु-पाश में बद्ध करते हुए कहा—"तुम भिखारिनी कब से हुईं ? मैं तो तुमको अपने हृदय की साम्राज्ञी समझता था।"

उसने अपने को छुड़ाते हुए कहा—"छोड़ो ! छोड़ो ! यह झूठा, जबरदस्ती का प्रेम मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं अब साम्राज्ञी कहाँ रही ? अब तो भिखारिनी राजरानी हो गई, और राज-रानी भिखारिनी। क्यों ? सच कहना, क्या अभी तक उसको नहीं भूल सके हो ?"

मेरे मुख की हँसी तिरोहित हो गई। प्रेम का उच्छ्‌वास कम हो गया। मैंने उसको अपने वक्ष पर लिटाते हुए

कहा—"अनू ! सच कहो, क्या तुम्हारा मेरे ऊपर विश्वास नहीं है ?"

उसने अपना सिर रखते हुए कहा—"क्या आज तक कभी मैंने तुम्हारा अविश्वास किया है, जिस दिन मैं तुम्हारा अविश्वास करूँ, भगवान् से प्रार्थना है कि वही मेरे जीवन का अंतिम दिन हो। मुझे अपने ऊपर विश्वास नहीं है, लेकिन तुम पर है। यह मैं जानती हूँ कि तुम हमारे हो—और किसी के कभी नहीं हो सकते।"

कहते-कहते उसका गला भर आया। आँखों में विश्वास के आँसू छलछला आए। मैंने प्रेम के दूने आवेश से उसे अपनी भुजाओं में बाँध लिया। वह भी सिकुड़ गई। विश्वास की अंतिम सीमा प्रेम है।

थोड़ी देर बाद अपना सिर उठाकर पूछा—"क्यों, क्या अभी तक उस भिखारिनी को नहीं भूल सके हो ?"

मैंने संकुचित शब्दों में कहा—"हाँ, अभी तक नहीं भूल सका हूँ। अरुण ने आज उसकी याद दिलवा दी है। अनू ! उस भिखारिनी की दृष्टि में जो करुणा थी, जो दुःख था, जो मौन व्यथा थी, जो आह थी, जो तड़प थी, जो पवित्रता थी, जो सादगी थी, उसे मैं नहीं भूला हूँ। मुझे मालूम होता है, संसार में सबसे दुखी जीव वही है। मेरा मन कहता है, उसे कोई बड़ा भारी दुख है, जिसको वह किसी से कहती नहीं; अपने ही दिल के पर्दे में छिपाए है। अनू, मैं सत्य कहता

हूँ, जब मैं उसे याद करता हूँ, तभी उसकी वही मर्मभेदिनी दृष्टि स्मृति-पट पर आकर अंकित हो जाती है। उसकी उस दृष्टि में एक संदेश है, जो कहता है कि मुझ पर दया करो, मैं बहुत दुखी हूँ। मुझे विश्वास है, अगर तुम भी उसे देखतीं, तो तुम्हें भी वह हमेशा याद रहती।"

उसने कुछ नहीं कहा। धीरे-धीरे उसने अपना सिर मेरे हृदय पर रख लिया। उसके आलुलायित केश-दाम मेरे चारो तरफ़ फैल गए। उसका हृदय धड़क रहा था। मैं चुपचाप उसके सिर पर हाथ फेरने लगा।

सुबह उठकर आठ ही बजे अस्पताल चलने लगा। और दिन की अपेक्षा आज जल्दी जाते देखकर उसने पूछा—"क्यों, आज इतनी जल्दी क्यों? क्या जल-पान भी न करोगे?"

मुझे डर था कि कहीं कल की भिखारिनी न आ जाय, और भाग्य अथवा अभाग्य-वश वही भिखारिनी निकल न आवे।

मैंने कहा—"चाय तो पी चुका हूँ। जल-पान की कुछ ज्यादा जरूरत नहीं है। आज एक काम है। मेरे लिये आज बैठना नहीं, तुम खा लेना। मैं शायद देर करके आऊँ।"

उसने सशंकित स्वर से पूछा—"कौन काम है? अब भी खाकर नहीं जाते, और देर करके आने को कहते हो; यह तो ठीक नहीं है। मैं भी कुछ न खाऊँगी, जब तुम आओगे, तभी खाऊँगी।"

मैंने रुककर कहा—"यह कौन-सी बात है? मुझे काम है, मैं जा रहा हूँ।"

उसने जल-पान की तश्तरी आगे रखते हुए और मेरा हाथ पकड़ते हुए कहा—"बग़ैर खाए न जाओ। दो मिनट में देरी न हो जायगी। अब तुम्हें कौन साहब का डर पड़ा है!"

मैं जल-पान करने बैठ गया। उसके हाथों से छूटने का उपाय न था।

किसी तरह जल-पान करके पिंड छुड़ाया। उसने दो पान देकर मेरी ओर मुस्किराती हुई नज़रों से देखा। वह उसकी विजय की हँसी थी। मेरा हृदय पुलकित हो उठा।

मैंने उसका चिबुक उठाकर कहा—"अनू, वास्तव में तुम बड़ी सुंदरी हो!"

नववधू की तरह वह सकुचाई।

किंतु वह लज्जा थोड़ी देर की थी। शोख़ी और शरारत आँखों के दो झरोखों से झाँकने लगीं।

उसने ज़रा-सा घूँघट खींचते हुए कहा—"लेकिन तुम्हारी नज़रों में वह भिखारिनी तो कहीं सुंदर है।"

मेरा हृदय धड़कने लगा, और मुख पर लालिमा दौड़ गई। लेकिन उस तरफ़ हँसी का फ़ौवारा छूट पड़ा। उसने हँसते हुए कहा—"चोर की हिम्मत कितनी! क्यों सिविल-सर्जन साहब, नुसख़ा ठीक है न?"

मैं चुपचाप दरवाज़े की ओर बढ़ा। लेकिन उसने जाने नहीं दिया।

मेरा हाथ पकड़कर कहा—"आह! ज़रा-सी देर ठहर जाओ। जवाब तो दिए जाओ।"

मैंने रुककर कहा—"मेरी इतनी हिम्मत कहाँ कि आपके सामने मैं ज़बान खोलूँ?"

उसने ज़बरदस्ती एक आराम-कुर्सी पर बिठालते हुए कहा—"आप किसी तरह भी नहीं जा सकते। अजी, यह तो पहला वार था, पहले ही वार में बग़लें झाँकने लगे।"

मेरी हार मेरा बुरा हाल किए हुए थी। मैंने कहा—"तुम्हारा पहला ही वार इतना ज़बरदस्त होता है कि मात हो जाती है। तुम मज़ाक़ की शतरंज बड़ी अच्छी तरह खेलना जानती हो।"

उसने एक अजीब अदा से प्रणाम करते हुए कहा—"इस प्रशंसा के लिये मैं आपको धन्यवाद देती हूँ।"

मैंने कुर्सी पर से उठते हुए कहा—"अब तो मेरी अच्छी तरह मरम्मत कर दी, या अभी कुछ बाक़ी है। ईश्वर के लिये अब तो इजाज़त दो। देर हो रही है।"

उसने मुस्किराते हुए कहा—"हार का टीका लगवाकर जाते हुए शरम भी नहीं मालूम होती?"

मैंने हँसते हुए कहा—"तुमसे हारने ही में तो मेरी जीत

है। ईश्वर करे, तुम हमेशा यों ही जीतो, और मैं हारूँ। औरतों से कौन नहीं हारा है ?"

इसी समय बाहर कोई मीठे स्वर में गा उठा—

"ऊधो ! कर्मन की गति न्यारी।"

मेरी हृत्तंत्री बज उठी। मेरे मुख से बेतहाशा निकल पड़ा—"वह देखो।"

उसने मुस्किराते हुए कहा—"स्वप्न में भी बिल्ली को छीछड़े ही नजर आते हैं। यह तो कल भी आई थी। यह आपकी भिखारिनी नहीं है।"

इसी समय अरुण ने दौड़ते हुए आकर कहा—"बाबूजी, कलवाली भिखारिनी आई है।"

(५)

हाँ, यह भिखारिनी वही थी।—वही लखनऊवाली। वही मुख था, वही परिचित स्वर, वही करुणा-दृष्टि !

मेरा हृदय उछल उठा। उसने भी शायद मुझे पहचान लिया। तभी तो उसकी आँखें नीची हो गईं। उसका मुख लाल हो गया। उसने एक भोली और पवित्र दृष्टि से मेरी ओर देखा, और कहा—"बाबूजी, क्या यह आपका लड़का है ?"

अरुण मेरे पास ही खड़ा था। मैंने कहा—"हाँ। तुम यहाँ कैसे ? यह कौन है ?"

भिखारिनी—"मेरे पूज्य पतिदेव हैं, और यह लड़का है। बाबूजी, जब से आपने उस दिन लखनऊ में मेरी रक्षा की है,

उस दिन से अकेले भीख माँगने का साहस नहीं हुआ। तब से स्वामी के साथ भीख माँगने निकलती हूँ। यह आप ही का लड़का है? क्यों न हो, तभी पिता की प्रवृत्ति पाई है। कल भी मैं भीख माँगने यहाँ आई थी। इन्होंने कहा—'मेरे पास पैसा नहीं है, और अम्मा नहीं देगी। कल आना, मैं बाबूजी से लेकर रख छोड़ूँगा।' सुनकर मेरी आँखों में आँसू भर आए थे। मेरा जी भी पुलकित हो उठा। इन्हीं के कहने से मैं आज फिर आई थी।"

मैंने कहा—"भीतर आओ। इनकी मा तुमसे मिलना चाहती है। मैंने लखनऊ में तुम्हारी बहुत खोज करवाई, लेकिन तुम्हारा कहीं पता ही न था।"

मैं कहने को तो कह गया, लेकिन पीछे बड़ी लज्जा मालूम हुई। मैंने यह क्यों कहा?

भिखारिनी मेरे पीछे-पीछे चलने लगी। एक हाथ से अपने पति का हाथ पकड़े थी, और दूसरे से अपने पुत्र का। उसका पुत्र भी अपनी मा के तुल्य ही सुंदर था। भिखारिनी का पुत्र था, लेकिन गंदा नहीं था। भिखारिनी के मुख से एक पवित्र ज्योति निकल रही थी, और उसका पति यद्यपि अंधा था, लेकिन उसके मुख पर भी प्रभा थी।

अरुण की मा दरवाजे पर खड़ी थी। हम दोनो को आते देखकर वह किंचित् मुस्किराई, और थोड़ी दूर आगे भी चली आई। पास आकर उसने भिखारिनी के पुत्र को अपनी गोद में उठा लिया। भिखारिनी 'नहीं-नहीं' करती रही।

उसने उसका मुख चूम लिया, फिर भिखारिनी की ओर देखा। वह उसकी ओर बड़े ग़ौर से देखने लगी। धीरे-धीरे उसने उसके पुत्र को अपनी गोद से उतार दिया, और कहा—"कौन—अनसूया ?"

भिखारिनी चौंकी, और उसने मेरी स्त्री की ओर देखा, और कहा—"अन्नपूर्णा ?"

मेरी स्त्री और भिखारिनी दोनों लिपट गईं। आह ! वह मिलन कितना अद्भुत था ! पवित्रता और शृंगार का मिलन था !

अरुण की मा ने मेरी ओर देखकर कहा—"तुमने पहचाना नहीं, मेरे विवाह में तो तुमने देखा होगा ?"

मैंने भिखारिनी के पति का हाथ एक नौकर के हाथ में देकर कहा—"जाओ, इन्हें नहलाकर अच्छे कपड़े पहनाओ।"

भिखारिनी का पति बड़ी हैरत में था। वह जाने में हिचकिचाहट करने लगा।

भिखारिनी ने कहा—"यह मेरी सखी का मकान है। अब मैं कुछ देर इनके पास बैठूँगी। आप स्नान कर लीजिए !"

अंधे भिखारी को कुछ उ़ज्र न हुआ। वह उस नौकर के साथ चला गया।

अरुण की मा ने उसके पुत्र को गोद में ले लिया था, और वह मेरे अरुण को गोद में लिए थी।

मैंने घर के भीतर जाकर कहा—"तुम्हारी शादी में देखा था, खयाल तो नहीं आता।"

अरुण की मा—"तुम्हें उस लड़की की याद नहीं है, जिसने तुम्हारे गाल में गुलाल लगाया था, और तुम बहुत बिगड़े थे? ज़रा याद तो करो।"

मैंने उत्तर दिया—"याद नहीं पड़ता; बहुत दिन हो गए।" भिखारिनी का मुख लाल हो गया। उसने सलज्ज कंठ से कहा—"जो हाँ, बहुत दिन हो गए, क़रीब दस-बारह वर्ष।"

अरुण की मा—"हाँ, याद नहीं; नहीं बहन, बनते हैं। दो बरस बराबर तुम्हारे नाम की माला जपी है। ऐसा दिन शायद ही कोई बीता हो, जिस दिन तुम्हारी याद न की हो। क्यों बहन, उस दिन लखनऊ में तुमने क्या जादू कर दिया था?"

अनसूया झेंप गई! उसने धीरे से अरुण का मुँह चूम लिया।

मैं बाहर चला आया। सोचने लगा—अनसूया! क्या अच्छा नाम है!—और गुण भी पुराणों की अनसूया-जैसे हैं। न-मालूम किस पाप से यह दुःख भोगने को मिला। सूरदास ने बिल्कुल ठीक कहा है—"ऊधो! करमन की गति न्यारी"—एक सब तरह से सुखी है, और दूसरी पथ की भिखारिनी है। लड़कपन में दोनो साथ खेली हैं, साथ पढ़ी हैं, लेकिन कर्म-गति भी तो कोई चीज़ है। यहीं पर तो नास्तिक भी

हार जाते हैं, और कर्म तथा ईश्वर का अस्तित्व मानना पड़ता है।

अरुण को मा के मुख से अनसूया का हाल मालूम हुआ। अनसूया अनाथ बालिका थी। लड़कपन ही में माता-पिता मर गए थे, लेकिन चाचा ने उसका पालन-पोषण किया था। अनसूया के चाचा के भी संतान न थी। अनसूया की चाची की भी मृत्यु हो गई थी, केवल चाचा थे। अनसूया का विवाह अच्छे कुल में तो किया गया, लेकिन घर निर्धन था। मा-बेटे दो ही मनुष्य थे। अनसूया के पति की आँखें धीरे-धीरे ख़राब हो रही थीं। निर्धनता के कारण ठीक से इलाज न हो सकता था। उसका पति अधिक शिक्षित भी न था, क्योंकि धन का अभाव था। आजकल की शिक्षा तो निर्धनों के लिये है ही नहीं।

अनसूया के विवाह के बाद ही उसके चाचा का भी स्वर्ग-वास हो गया। उनकी संपत्ति एक दूर के संबंधी हड़प गए। अनसूया को एक पैसा भी न मिला। दो-तीन साल बाद उसकी सास भी काल-कवलित हो गई। धीरे-धीरे उसके पतिदेव भी अंधे होने लगे, और मा के मरने के बाद ही पूरी आँख में जाला पड़ गया। इन दिनों इलाज बराबर होता रहा, लेकिन उससे फ़ायदा कुछ दिखाई नहीं दिया। विवाह के ठीक पाँच वर्ष बाद अनसूया का पति दृष्टि-विहीन हो गया। घर की बची-खुची संपत्ति भी ख़र्च हो गई। अब खाने के

लाले पड़ने लगे । भिक्षा-वृत्ति के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं था । अंत में वही करना भी पड़ा। पहलेपहल भिक्षा माँगते हुए बड़ी ग्लानि, बड़ी शर्म मालूम हुई, लेकिन उसके अतिरिक्त तो और कुछ चारा नहीं था । कई स्कूलों में अनसूया ने कोशिश की, लेकिन पथ की भिखारिनी को कोई नौकरी भी न मिली । भीख माँगने में जो लांछना होती थी, वह उसे मौन होकर सहती। इसके बाद ही लखनऊ की घटना घटी । उस दिन से वह अपने साथ अपने स्वामी को लेकर भीख माँगने निकलती। स्वामी साथ होने के कारण कोई भी उसका अपमान न कर सकता था। वह सुरक्षित थी । लखनऊ के बाद वह कानपुर गई, फिर इलाहाबाद और फिर मथुराजी। मथुरा में वह तीन महीने से है। यहाँ पर उसे खाने-भर को और कभी-कभी उससे अधिक मिल जाता है।

मेरी स्त्री ने कहा—"देखो, अनसूया अब जाने नहीं पाएगी। उसकी रक्षा का भार तुम्हें लेना पड़ेगा।"

मैंने हँसकर कहा—"एक पथ की भिखारिनी के लिये मेरे घर में जगह नहीं है।"

वह—"अभी तो उसकी याद में जान देते थे, और अब ऐसा कहते हो । यह कुछ नहीं हो सकता, वह यहीं रहेगी, और उसके स्वामी की आँखें भी अच्छी करनी होगी। आँखें

अच्छी हो जाने पर उसे कहीं काम से लगा देना होगा। आया समझ में।"

मैं—"जी हाँ, आ गया। आपका हुक्म सर-माथे पर। आँख का ऑपरेशन भी करना पड़ेगा?"

वह—"चाहे जो कुछ भी करो, लेकिन आँख ठीक करनी पड़ेगी।"

मैंने हाथ जोड़कर कहा—"बहुत अच्छा सरकार!"

उसने मेरा हाथ झटककर कहा—"हाथ जोड़ो जाकर अपनी भिखारिनी के, मेरे नहीं।"

मैं—"किसके, अनसूया के?"

वह—"नहीं, वह तो मेरी सखी है, किसी और भिखारिनी के; क्या मथुरा में कुछ कमी है?"

मैं—"नहीं, मेरे ही घर में दो हैं।"

वह—"देखो, आज से कभी उसे भिखारिनी जो कहा, तो मैं तुमसे बोलूँगी नहीं। याद रखना।"

मैं—"यह सज़ा न तजवीज़ की जाय, मैं कहने का कभी दुस्साहस न करूँगा।"

वह मुस्किराती हुई चली गई। वह उस दिन कितनी प्रसन्न थी!

❀ ❀ ❀

अनसूया के स्वामी का नाम था रामप्रसाद। मैं उनका इलाज करने लगा। आँखों का ऑपरेशन किया। उनका

जाला साफ़ कर दिया गया, और फिर सी दी गईं। धीरे-धीरे आँखें अच्छी होने लगीं। जिस दिन आँखें अच्छी हुईं, उस दिन मैंने रामप्रसाद को अपनी स्त्री और अनसूया के सामने लाकर खड़ा कर दिया और कहा—"यह लो, अब तो कुछ इनाम मिलना चाहिए।"

मेरी स्त्री की आँखें गर्व और हर्ष से चमक उठीं। अनसूया उठी, और मेरे पैरों में सर रखकर अश्रु-पूर्ण नेत्रों से बोली—"मैं तुमको क्या दूँ, पथ की भिखारिनी हूँ। भिखारियों के पास केवल आशीर्वाद होता है। वही देती हूँ। फिर अरुण को गोद में लेकर उसका मुँह चूम लिया, और कहा—'भगवान् से यही प्रार्थना है कि यह मेरा लाल राजराजेश्वर हो। अगर सती के शब्दों में कुछ असर है, तो यह अवश्य होगा।'"

यह कहकर उसने अरुण का मुख फिर चूम लिया।

मेरी स्त्री ने कहा—"बस बहन, यही आशीर्वाद दो। हमारा अरुण राजराजेश्वर हो।"

तीज की साड़ी

(१)

कोयल की सुमधुर तान से भी गायत्री का हृदय न खिला। खिलता कैसे, उसमें तो शोक की छाप-सी लगी हुई थी। कोयल—निष्ठुर कोयल—किसी के दुःख को क्या जाने। वह अपने ही सुख से सुखी थी। कूहू-कूहू करती ही गई, उसने तनिक भी गायत्री के मुरझे और दुखी मुख की ओर न देखा, तनिक भी समवेदना नहीं प्रकट की, तनिक भी सहानुभूति न दिखलाई। दिखलाती क्यों? उसे क्या पड़ी थी। कोयल के स्वर से दुखी होकर गायत्री ने उसकी ओर देखा। उसके दुखी हृदय-मंदिर में मीठी तान झंकृत हुई, और अब की बार उसने वेदना-भरी दृष्टि से उस निष्ठुर पक्षी की ओर देखा। उस पीड़ा-पूर्ण तथा आह-भरी चितवन ने हृदय-स्थल की वेदना भोले-भाले आँसुओं द्वारा कह दी। कोयल चुप हो गई। गायत्री को कल न थी—वह फिर भावों के अनंत सागर में डूब गई। उसकी म्लान दृष्टि से हृदय-कंपित व्यथा निकल रही थी—उसकी निःश्वासों के साथ पाषाण-हृदया वेदना संसार के सम्मुख आकर सुशीतल मलय मारुत को कलुषित कर रही थी।

आम्र-वृक्ष के सामने ही एक साधारण घर था। उसके पास

का भग्न स्थान इस बात की साक्षी दे रहा था कि किसी समय में यह एक उच्च प्रासाद-तुल्य अट्टालिका थी। किंतु समय के साथ वस्तु का ह्रास होता ही है। यद्यपि पिछला और आस-पास का हिस्सा स्वच्छ न था, तथापि घर भीतर से पूर्णतया स्वच्छ और निर्मल था। घर में केवल दो कमरे दुर्दैव के प्रकोप से बचे थे। एक में एक टूटी शय्या थी, उसी पर गायत्री की एकमात्र स्नेह तथा प्यार से पाली हुई पुत्री जाह्नवी लेटी हुई थी।

जाह्नवी बीमार थी। ज्वर था, किंतु सामान्य न था। वह बड़ा भयानक था। बीमार हुए कई दिन बीत गए थे। बालिका ने उपवास भी किए थे। चंचला जाह्नवी की सब चपलता तिरोहित हो गई थी। उसको आज तक किसी ने भी सावधान बैठे नहीं देखा था। कभी वह छोटे-छोटे नवजात बछवों के साथ खेलती, कभी बड़े प्यार से पोषित हरिणी के साथ दौड़ती, कभी अपनी वयस्का सखियों के साथ आम्र-वन के सघन निकुंजों में बाल्य-सुलभ क्रीड़ाएँ करती, कभी पुष्करिणी के निर्मल नीर में केलि करती, और कभी कोयल को चिढ़ाने के लिये कूहू-कूहू करती। किंतु जाह्नवी आज असहाय हो शय्या पर मलीन पड़ी हुई थी। रोज़ की तरह जाह्नवी के सब मित्र आते, किंतु उसकी असहाय दशा देख चले जाते। हरिणी छलाँगें मारती हुई आती, उसको आशा होती कि एक और कोई भी मेरे साथ दौड़ेगी, किंतु अभागिनी की आशा निराशा में परिणत होती, और वह दुःखी होकर चली जाती। बालिकाएँ

आतीं, और सखी को दुःखी देख रोने लगतीं । और शायद आज कोयल भी बड़ी साध से, बड़ी आशाओं को लेकर आई थी, और बड़े चाव से, बड़ी प्रसन्नता से कुहुक रही थी। उसको आशा थी कि कोई उसे चिढ़ाएगा, किंतु किसी ने उसको उत्तर न दिया। कोयल चुप हो गई। जाह्नवी—विकला जाह्नवी उस समय निद्रा में मग्न थी। कोयल को उत्तर कौन देता। किंतु उसकी कुहुक से वह जाग पड़ी। अब की वह फिर बोली, जाह्नवी ने उसको चिढ़ाने के लिये मुँह खोला, वह साध मन ही में रह गई, और दुःखिनी बालिका न बोल सकी। उसने अपने चारो ओर देखा। वात्सल्य-पूर्ण मा का कातर मुख कहीं न देख पड़ा। उसकी लंबी उसाँसें भी न सुनाई दीं।

बालिका भयभीत हो गई। क्या देखकर भीत हुई, वही जाने, किंतु डर गई अवश्य।

भय-विह्वला बालिका ने पुकारा—"मा, ओ मा !"

जाह्नवी की पुकार गायत्री ने सुनी। उसने उसके पास पहुँचकर कहा—"क्या है जाह्नवी ! तबियत कैसी है ?"

बालिका ने मा को शांति प्रदान करने के लिये कह दिया—"अब तो अच्छी है मा।" गायत्री ने भी सुना। वह अबोध न थी। उसके शुष्क पीले गालों पर आँसू ढुलक पड़े। मा को रोते देख जाह्नवी अधीर हो गई, उसने फिर कहा—"मा, रोओ नहीं, तुम्हारे रोने से मुझे दुःख होता है।"

जाह्नवी दुःखित होगी, यह जान मा रोई नहीं। उसने मलिन

अंचल से अपने आँसू पोछ डाले और कहा—"अब न रोऊँगी।" वह उसके शुष्क बालों को सँवारने लगी। ज्वर से सिर तप रहा था। हाथ रखना कठिन था, किंतु मा को कब इसकी परवा है, कब इसकी चिंता है।

बालिका ने करवट बदलकर कहा—"मा, बाबूजी की चिट्ठी आई?"

मा ने निषेध-सूचक सिर हिला दिया। बालिका के मुख से ठंडी आह निकल गई, और दो आँसू निकलकर ढुलक पड़े!

बालिका ने फिर कहा—"मा, तीज कब है? क्या अब की बार कपड़े मोल न ले दोगी? शिबू दादा के साथ मैं भी नहाने जाऊँगी। जाने दोगी मा?"

मा ने कन्या की बाल्य-सुलभ बातें सुनीं। न-जाने क्यों उसका हृदय काँप गया। कौन जाने उस दिन तक उसकी जाह्नवी इस संसार में रहे या न रहे। दुःखिनी का सहारा रहे या न रहे। उसने स्नेह-पूर्ण स्वर में कहा—"जाने क्यों न दूँगी बेटी, तुम अच्छी तो हो जाओ।"

बालिका ने पुनः कहा—"मैं तो रेशमी साड़ी लूँगी।"

बालिका क्या जाने कि उसकी मा के पास यथेष्ट धन है या नहीं। उसको मा को अब अपनी निर्धनता का ध्यान आया, और अतीत का दृश्य उसके सामने नृत्य करने लगा। उसको रामकृष्ण की बातें याद आने लगीं। अतीत में एक दिन उसने भी रेशमी साड़ी माँगी थी, और उसके पति रामकृष्ण

ने तुरंत ही लाकर उसकी इच्छा पूर्ण कर दी थी। दुर्दैव तथा अभाग्य से आज वह अपनी परम प्रिय जाह्नवी की एक तुच्छ इच्छा पूर्ण करने में असमर्थ है। उसकी आँखों में आँसू भर आए। उसने उन्हें पोंछकर उत्तर दिया—"ले क्यों न दूँगी। तू तो पहले अच्छी हो जा।"

कहने को तो उसने कह दिया। जो वेदना उसे हुई, केवल मा ही अनुभव कर सकती है। वही जानती है, और कोई क्या जाने। दुःखी दुःख को जानता है—सुख से पले हुए नहीं जानते। बालिका मा के मुख की ओर देखने लगी। दृष्टि उसकी बड़ी कातर थी। उसमें निराशा और दुःख का आभास था, उसने करवट बदली, और आँखें मूँदकर कुछ विचारने लगी। क्या विचारती थी—वही जाने।

(२)

रात्रि कट गई। गायत्री ने समस्त रात जागकर काटी। केवल क्षण-भर के लिये उसको झपकी लग गई थी, किंतु उसमें भी उसे तनिक विश्राम न मिला। कल न मिली। शांति न मिली। मिलती कैसे? वह तो अशांति ही लेकर संसार में आई थी।

उसने उस क्षणिक निद्रा में एक भयावह स्वप्न देखा। स्वप्न न था, दुःखमय भविष्य की सूचना-मात्र थी। उसने देखा, वह अपनी कुटीर के सामने म्लान मुख से बैठी हुई है। एक भीषणकाय संन्यासी ने आकर उसके सम्मुख अपना भिक्षा-पात्र करते हुए कहा—"मा, भीख दो।"

गायत्री ने कोई उत्तर न दिया।

उसने फिर कहा—"मा, भीख दो।"

गायत्री ने पूछा—"क्या दूँ ?"

संन्यासी ने कहा—"जाह्नवी, अपनी कन्या।"

गायत्री अवाक् रह गई। संन्यासी घर में घुस गया, और सोई हुई जाह्नवी को उठाने लगा। गायत्री ने चिल्लाकर कहा—"उसे मत छूना, कहाँ लिए जाते हो, कौन हो ?"

गायत्री आगे और न देख सकी। अपने शब्द से वह आप जाग पड़ी, और पागल की भाँति चारो ओर देखने लगी। उसके माथे पर पसीने की बूँदें झलझला रही थीं। उसे ऐसा मालूम हो रहा था, मानो सत्य ही संन्यासी उसकी प्यारी जाह्नवी को उठा रहा है। हृदय का स्पंदन बड़े वेग से हो रहा था। शरीर काँप रहा था। साँस बहुत धीरे-धीरे चल रही थी। मंद दीप के प्रकाश में स्वप्न स्वप्न में परिणत हो गया।

गायत्री फिर न सो सकी। सोती कैसे ? निद्रादेवी की मधुरिमामयी स्नेह-क्रोड़ गायत्री के लिये न थी। वह चिंतित थी। चिंतकों के लिये नींद की मीठी थपकियाँ एक दुराशा-मात्र हैं। वह मा थी। उसकी एकमात्र कन्या मृत्यु-मुख की ओर अग्रसर हो रही थी। संतान के दुःख से दुःखी मा को नींद ! यह कैसे संभव है ? उसकी आंतरिक व्यथा कोई क्या जाने। दुःख संतान पर नहीं आते, आते हैं वे मा के ऊपर। मा ही उन्हें झेलती है। मा का हृदय ही उस दुःख को जानता है।

गायत्री भयभीत हो गई। उसके मुख पर स्वेद की बूँदें झलझला रही थीं। उसने जाह्नवी के मस्तक पर हाथ फेरा। उसमें प्रेम का कितना अटूट स्रोत था, कितना स्नेह था, कितना वात्सल्य था, कोई क्या जाने। जाह्नवी जाग पड़ी। उसने मा की ओर देखा। मा की आँखों में आँसू भरे हुए थे। आँसू गायत्री के दूत बनकर निकले थे, किंतु वे भी न कह सके। शोक से, दुःख से वे मुरझा गए, और पृथ्वी पर गिरकर उसी में कहीं छिप गए। मेदिनी ने उन्हें अपने अंक में छिपा लिया, ठीक उसी भाँति, जिस तरह उसने अतीत में जनक-नंदिनी सीता को छिपा लिया था, जब वह शोक और दुःख से पागल हुई जा रही थीं।

जाह्नवी उद्विग्न हो गई। गायत्री ने अपने आँसू पोछ डाले। उसने बड़े प्रेम से जाह्नवी का हाथ पकड़कर कहा—"दवा खाओगी बेटी ?"

शांतिपुर में एक डॉक्टर थे, उनका नाम था मुरारीमोहन। कानपुर के किसी डॉक्टर के यहाँ पहले कंपाउंडर थे, किंतु अब शांतिपुर में ही दवाखाना खोलकर डॉक्टरी करते हैं। फ़ीस आपने एक रुपया रक्खी थी, किंतु कभी-कभी दो रुपया तक ले लिया करते थे। सबको पहले आप कुनैन-मिक्श्चर दिया करते थे। जाह्नवी के भी आज दस दिन वही दवा खाते हुए बीत गए थे। इसी के लिये गायत्री ने पूछा था।

जाह्नवी ने कहा—"लाओ, खा लूँ।"

गायत्री ने औषध खिला दी। जाह्नवी ने पूछा—"मा, बाबूजी कब तक आवेंगे ?"

मा ने उत्तर दिया—"क्या जानूँ कब तक आवेंगे ?"

बालिका ने फिर पूछा—"कहाँ गए हैं ?"

मा ने अपने आँसुओं को रोकते हुए कहा—"कालेपानी।"

"कालापानी कहाँ है ?"

"यहाँ से बहुत दूर।"

"बाबूजी वहाँ क्या करने गए हैं ?"

"वह अपने मन से नहीं गए हैं, सरकार ने उन्हें भेजा है।"

"सरकार ने क्यों भेजा है ?"

गायत्री ने मंद स्वर में कहा—"उन्होंने अपराध किया था।"

जाह्नवी ने पूछा—"क्या अपराध था ?"

न-जाने क्यों यह प्रश्न सुनते ही गायत्री का मुख-मंडल लाल हो गया। लाल लज्जा से हुआ या अभिमान से ? उसने गर्व-पूर्ण स्वर में कहा—"उसे सुनकर क्या करेगी। संसार के समक्ष अपराध न था, किंतु सरकार की आँखों में वह गुरुतर अपराध था। सोई हुई आत्मा को जगाना धार्मिक दृष्टि से पाप भले ही न हो, किंतु राजनीतिक दृष्टि से पाप अवश्य है। अत्याचार सहना धर्म है, और उसका प्रतिकार करना अधर्म। देश की आवाज़ के साथ वह वीर सैनिक की भाँति कर्म-क्षेत्र में अवतीर्ण हो गए। वह निःशस्त्र थे, और शांति थे। वह निर्बल थे,

और असहाय थे। न्याय का गला घुटते देख सहायता को दौड़े। वह बंदी बनाए गए, और मुझ अभागिनी से छुड़ाकर सुदूरवर्ती प्रदेश को भेज दिए गए।

जाह्नवी ने समझा या नहीं, वही जाने। अभागिनी मा का हृदय जो वेदना, जो पीड़ा अनुभव कर रहा था, उसे जाह्नवी न जान सकी। गायत्री के नेत्रों के सम्मुख अतीत का दृश्य फिर गया। रामकृष्ण की अंतिम बिदा स्मृति-पट पर अंकित हो गई। शृंखला-बद्ध रामकृष्ण की सुंदर प्रतिमा सामने आ गई। वह बिदा का दृश्य था। रामकृष्ण अपनी प्रियतमा गायत्री को छोड़कर समुद्र पार कालेपानी जानेवाले थे। गायत्री रो रही थी। रामकृष्ण जाह्नवी को गोद में लेकर बार-बार उसके अरुण कपोलों को चूम रहे थे। अश्रु-पूर्ण नेत्रों, अवरुद्ध कंठ से गायत्री से कहा था—"देखो, मेरी यह धरोहर नष्ट न होने पावे। यदि कभी लौट सका, तो इसका विवाह करूँगा।" कह ही रहे थे कि समय समाप्त हो गया, और सैनिक ने कहा—"चलो।" रामकृष्ण चले गए। गायत्री मोटर पर बैठे हुए रामकृष्ण की ओर एकटक देख रही थी। वह भी देख रहे थे, किंतु उनकी दृष्टि में कितना अभिमान था, कितना गौरव था, कितना प्रेम था और कितनी परवशता थी, गायत्री ही समझ सकी थी। उसका शरीर रोमांचित हो गया। हृदय सिहिर उठा। उसने रोकर हृदय हलका करना चाहा, किंतु न कर सकी। उससे न रोया गया और न वह रोई। किंतु मन-ही-मन

जो वेदना उसने अनुभव की, वह और कठिन तथा असह-नीय थी।

मा को चिंतित देख जाह्नवी ने पूछा—"क्या बाबूजी वहीं रहेंगे, यहाँ नहीं आवेंगे ?"

मा ने रुँधे गले से कहा—"अब नहीं आवेंगे।" जाह्नवी विकल हो गई। वह फिर अपने पिता को देख न पाएगी। यद्यपि वह बालिका थी, तथापि वह इतनी अबोध न थी। रह-रहकर कभी स्मृति की झलक दिखाई देती, और उसमें वह अपने पिता के दर्शन कर लेती। वह निरी बालिका थी, शोक सहन न कर सकी, रोने लगी।

गायत्री ने उसे बोध देने के हेतु कहा—"पिता नहीं हैं, मैं तो हूँ। मैं तुम्हारी मा हूँ।" यह कह उसने जाह्नवी का मुख चूम लिया।

(३)

शांतिपुर में गंगा के तट पर आज तीज का मेला है। हिंदू-महिलाओं का पवित्र दिवस है। हर्ष की उत्तुंग तरंगें बड़े वेग से उठती हैं, और शोक तथा कालिमा को बहा ले जाती हैं। सभी महिलाएँ प्रसन्न हैं। किंतु गायत्री को प्रसन्नता नहीं है। जाह्नवी आज और विकल है। ज्वर का वेग कम नहीं हुआ, वरन् बढ़ गया है। गायत्री उसके सिरहाने बैठी हुई सेवा में तन्मय हो रही है।

शांतिपुर में शिवनाथ भी रहता था। शिवनाथ कानपुर के

किसी कॉलेज में पढ़ता था। इधर पिता की बीमारी का संवाद पाने से छुट्टी लेकर चला आया था। जाह्नवी को वह बहुत प्यार करता था। बालिका जाह्नवी शिवनाथ के आने की राह सर्वदा देखा करती थी। शिवनाथ को वह 'भैया' कहकर पुकारा करती थी।

संध्या थी। निशा का आरोहण था और दिवस का अंत। शिवनाथ ने आकर जाह्नवी को पुकारा। जाह्नवी ने कोई उत्तर न दिया। वह तो अचेत थी। ज्वर के ताप से विकल थी।

शिवनाथ ने आकर गायत्री से पूछा—"चाची, जाह्नवी की कैसी तबियत है ?"

गायत्री ने उत्तर दिया—"वैसी ही है शिवनाथ, ज्वर तो उतरा ही नहीं।" शिवनाथ ने जाह्नवी के मस्तक पर हाथ रख ताप देखना चाहा। जाह्नवी जाग पड़ी। शिवनाथ को देख जाह्नवी ने कहा—"भैया, हमें साड़ी ला दो।"

शिवनाथ ने सप्रेम पूछा—"कैसी लोगी जाह्नवी ?"

बालिका ने मंद स्वर में कहा—"रेशमी। किंतु..."

वह चुप हो गई।

शिवनाथ ने पूछा—"किंतु क्या ?"

जाह्नवी ने कुछ देर सोचकर कहा—"कुछ नहीं, मेरे लिये साड़ी न लाना। मैं न लूँगी।"

शिवनाथ ने साश्चर्य पूछा—"क्यों ?"

जाह्नवी ने कहा—"मा के पास रुपए नहीं हैं।"

शिवनाथ ने कहा—"मैं ला दूँगा।"

जाह्नवी ने साभिमान कहा—"नहीं, मैं नहीं लूँगी। मा के पास रुपए नहीं हैं, मैं नहीं लूँगी। कहाँ से ले सकती हूँ। नहीं, मत लाना।"

जाह्नवी ने दुःख से अपना मुख फेर लिया। गायत्री के मुख पर आत्माभिमान की ज्योति जगमगाने लगी। उसने सगर्व जाह्नवी की ओर देखा। शिवनाथ चुपचाप जाने लगा। जाते समय कहा—"औषध समय पर देती जाना।"

शिवनाथ चला गया। घर में केवल मा-बेटी रह गईं। एक बीमार थी और दूसरी मृतप्राय। एक को शारीरिक पीड़ा थी और दूसरी को आंतरिक तथा मानसिक व्यथा। दोनों ही दुःखी थीं।

लगभग एक घंटे के पश्चात् शिवनाथ एक साड़ी और एक थाली में भोजन लिए हुए आया। साड़ी रेशमी थी।

गायत्री ने सब देखकर कहा—"खाने को भी ले आए, मैंने आज ही तो बनाकर खाया है। यह सब क्यों ले आए।"

जाह्नवी ने करवट बदलकर कहा—"भैया, मैंने तो कहा था कि मैं नहीं पहनूँगी, फिर क्यों ले आए?" शिवनाथ न जान सका कि वह क्या उत्तर दे। किंतु उसने जाह्नवी से कहा—"क्यों जाह्नवी, क्या मैं आज नई चीज़ दे रहा हूँ? कितने ही बार खिलौने लाकर दिए। वह सब क्या तुमने नहीं लिए। देखो, सभी नए-नए कपड़े पहने हैं। तुम न पहनोगी, तो मुझे दुःख होगा।" जाह्नवी ने कोई उत्तर नहीं दिया।

शिवनाथ ने फिर पूछा—"न पहनोगी ?"

जाह्नवी मा की ओर देखने लगी। गायत्री ने कहा—"पहन लो बेटी! तुम्हारे भैया लाए हैं।"

जाह्नवी ने साड़ी लेकर मा से कहा—"तुम्हीं पहना दो।"

मा ने साड़ी पहना दी।

शिवनाथ भूमि पर जाह्नवी के सामने बैठ गया। जाह्नवी ने पूछा—"भैया, हमें एक चिट्ठी लिख दोगे ?"

शिवनाथ ने पूछा—"किसको ?"

जाह्नवी ने कहा—"बाबूजी को लिखाऊँगी, कालेपानी को।"

शिवनाथ ने बोध देने को कह दिया—"हाँ, लिख दूँगा।"

जाह्नवी ने पूछा—"कालापानी कहाँ है ?"

शिवनाथ ने कहा—"यहाँ से बहुत दूर एक देश है।"

जाह्नवी ने पूछा—"क्या मैं वहाँ जा सकती हूँ ?"

शिवनाथ ने कहा—"नहीं, तुम नहीं जाने पाओगी।"

जाह्नवी ने प्रलाप की भाँति बकते हुए कहा—"मैं जाऊँगी, बाबूजी से मिलूँगी, बाबूजी, बाबूजी, कालापानी, कालापानी !"

शिवनाथ ने पूछा—"क्या कहती हो जाह्नवी ?"

जाह्नवी ने हँसकर कहा—"तुम कौन हो ? क्या यह कालापानी है ? मेरे बाबूजी को क्या तुमने देखा है ? बोलो। तुम बोलते क्यों नहीं ? क्या यही मेरे बाबूजी हैं ?"

जाह्नवी बकती ही गई। गायत्री तो घबरा गई। जाह्नवी के मुख पर पसीने की बूँदे झलझला रही थीं। शरीर हिम-सा शीतल हो रहा था। शिवनाथ चकित हो गया। उसने पूछा— "क्या कहती हो?"

जाह्नवी ने कुछ नहीं सुना। वह कहती ही गई—"काला-पानी...कालापानी...मैं तो चलते-चलते थक गई...अब नहीं चलूँगी...ठहरो...बाबूजी कहाँ हो...मुझे मिल लेने दो।" और उसी भाँति लगभग एक घंटे के पड़ी रही। प्रलाप बार-बार बकती थी। फिर उसकी आँखें चढ़ गईं। मृत्यु विभीषिका सम्मुख आने लगी। वह चुप हो गई, और हो गई सर्वदा के लिये!

गायत्री ने घबराकर जाह्नवी का सिर अपनी गोद में ले लिया। वह अश्रु-पूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखने लगी। जाह्नवी ने न जाना कि कोई उसे देख रहा है। उसके नेत्रों से ज्योति तिरोहित हो चुकी थी। शिवनाथ भी रोने लगा। गायत्री बड़े ज़ोर से रो पड़ी। "हाय मेरी बेटी!" कह अचेत हो गिर पड़ी।

जाह्नवी की अंतरात्मा कहीं को गमन कर चुकी थी।

(४)

प्रभातकाल की शांत मयूखें समुद्र के नीले वक्ष पर पड़कर झिलमिली पैदा कर रही थीं। द्वीप की गगन-चुंबी शृंग-मालाओं पर सूर्य की किरणें केलि कर अपने काम में लगे हुए क़ैदियों के मन बहलाने का यत्न कर रही थीं। अभागे क़ैदियों को वह

सुख कहाँ बदा था ; वे तो शिलाओं को खोद रहे थे। उनका मन कहीं और था। सिर पर कोड़ा लिए हुए एक गोरा खड़ा था। जहाँ किसी का ध्यान इधर-उधर गया, बिजली चमक उठी, और गिर पड़ी। शरीर से रक्त बहने लगा। बड़े सुख से पाले हुए भारतीय शरीर का शोणित यों ही बहाया जाता है। अभागे भारतीय अपने रक्त से भारत-भूमि को नहीं सींचते, परंतु वे सींचते हैं सुदूरवर्ती अंडमान द्वीप की भूमि !

रामकृष्ण का हाथ थक गया। उन्होंने कुदाल रख दी, और विश्राम लेने को उसी के सहारे खड़े हो गए। वह एक पाप था। हाँ, विश्राम ले लेना एक भयानक पाप है। संसार के समक्ष नहीं, एक विदेशी अधिकारी के समक्ष ! उसने पाशविक प्रवृत्ति-पूर्ण निष्ठुरता से देखा। उसने उसे अपराध समझा। उसने कोड़ा उठाया और मार दिया। उसने अपना हाथ-भर हिलाया, किंतु रामकृष्ण की काली पीठ से खून की धारा बह निकली। एक ही पर अंत न था। दूसरा उठा और फिर तीसरा। रामकृष्ण अब अधिक न सहन कर सके। उनको केवल मूर्च्छा का सहारा था। निश्चेतना दौड़ी और भारतीय को अपने अंक में स्थान दे दिया। उसने काले और सफ़ेद चर्म का भेद न किया, केवल लाल रक्त देखा, जो दोनो में बहता है। संसार के दुखियों के पास निश्चेतना ही एक सुखमय सहारा है—वही एक सुखमय वस्तु है। भगवान् ने भी मानो और वस्तु उनके लिये बनाई ही नहीं !

गेंद में हवा भरो, वह फूलता जायगा। परिमाण से अधिक भर देने से वह फट जायगा। सहन-शक्ति की भी हद है—उसकी भी कोई परिवर्धित सीमा है। अन्यान्य क़ैदी इस अत्याचार को न सहन कर सके। वे बिगड़ गए, और संतसिंह ने तो बढ़कर कोड़ा ही छीन लिया। अधिकारी भौंरे की भाँति भन-भनाने लगा। न-जाने क्या बकता हुआ चला गया। सब लोग रामकृष्ण की शुश्रूषा करने लगे।

कमिश्नर साहब आए। वह अराजकों को दंड देने आए। उनकी कठोर व्यवस्था करने आए। उनके मुख का शब्द ईश्वरीय आज्ञा थी। उनकी इच्छा क़ानून था। उन्होंने आज्ञा दी कि सब क़ैदी अपराधियों की भाँति आत्म-समर्पण कर दें, नहीं तो उनके लिये केवल एक दंड और शेष है, और वह है रक्त की प्यासी गोली का शिकार होना। भारतीय क़ैदियों के हाथों में लोहे के आभूषण शोभित होने लगे। वे बाँध डाले गए। सब विद्रोही थे। उन्होंने बड़ा भारी अपराध किया था। उन्होंने अत्याचारी का अस्त्र छीन लिया था। क्या यह कम अपराध है? यही अपराध था और गुरुतर था। यह अराजकता है। अराजकता क्यों नहीं? साँप का विष-दाँत तोड़ डालो, और वह अपराध नहीं है? यह है न्याय और उसके रचनेवाले का ढोंग!

रामकृष्ण अचेत ही रहे। चेतना की दुःखमय सीमा में उन्होंने अपना पैर न रक्खा। रामकृष्ण को उस अवस्था में भी सुख न था। उनकी अंतरात्मा भारत के शांतिपुर में विचर

रही थी। उनके समक्ष जाह्नवी की बाल-क्रीड़ा नृत्य कर रही थी। उनके अनिमेष नेत्र जाह्नवी का घुटनों के बल चलना और फिर गिर पड़ना देख रहे थे। उनके कान सुन रहे थे उसकी किलकारियाँ और गायत्री की प्रेम-भरी झिड़कियाँ। पट परिवर्तित हुआ। अब की बार उनकी आँखों ने कुछ और ही दृश्य देखा। अब की बार मलिन-वदना, जाह्नवी शय्या पर लेटी हुई थी। गायत्री खड़ी हुई रो रही थी। उनके कानों ने अब की बार सुनी उसकी शोकोच्छ्वास पूर्ण दबी हुई उसाँसें। दृश्य पुनः बदला, और अब की बार एक अपूर्व दिव्य ज्योति आकाश में उड़ती हुई दिखाई दी। प्रकाश उड़ता हुआ उनके पास आ गया। रामकृष्ण ने आँखें खोल दीं। भ्रांति-पूर्वक वह चारो ओर देखने लगे। निविड़ अंधकार-राशि थी, किंतु थोड़ी दूर पर वह प्रकाश स्थित था। रामकृष्ण को विश्वास न हुआ। उन्होंने आँखें मलकर देखा, कहीं कुछ न था। केवल निर्जन कोठरी थी, और अभेद्य अंधकार था। उन्होंने करवट बदली। उनको पीड़ा मालूम हुई। किंतु उन्होंने उसकी किंचित् परवा न की। वह कैसे करें? उनको और ही चिंता थी। वह जाह्नवी के लिये दुःखी थे। पिता का हृदय संतान के देखने के लिये रो रहा था, वह दुःखी थे।

प्रभातकाल हुआ। सूर्य उदय हुआ। नित्य भी होता है, और आज भी हुआ। पर आज का सूर्य नव हर्षमय समाचार को लेकर उदित हुआ। आज समस्त क़ैदियों के लिये सुप्रभात

था। कल की रात्रि काल-रात्रि थी। वह कट गई थी। वे आज स्वतंत्र थे। माता के पुजारी स्वतंत्र थे। सम्राट् की आज्ञा...नहीं...दया से, उनकी बड़ी अनुकंपा से, वे आज मुक्त हो गए थे। पंजाब-हत्याकांड-रक्त से रँगे हुए हाथों को इस दया रूपी जल से धोने का यत्न सम्राट् ने किया था। मानो ब्रिटिश राजनीति के माथे पर से लगे हुए कलंक-टीके को मिटाने का उपाय किया गया था।

एकांत कोठरी में पड़े हुए रामकृष्ण ने भी सुना। पहले उसने परिहास समझा, किंतु जब संतसिंह, मोहनलाल, वारींद्र प्रभृति ने आकर रामकृष्ण को हृदय से लगाकर 'वंदेमातरम्' जय-ध्वनि की, तब उसने सत्य समझा। कल इसी समय सब अपराधी अराजक और विद्रोही माने गए थे, पर अब इस समय सब स्वतंत्र हैं। ईश्वर की अपार महिमा, अखंड माया!

वारींद्र ने मुस्किराकर कहा—"कहो रामकृष्ण, कैसे हो?"

रामकृष्ण ने अन्यमनस्कता-पूर्वक कहा—"अच्छा ही हूँ।"

वारींद्र ने फिर कहा—"चलो भाई, अब हम फिर जननी जन्मभूमि की पवित्र चरण-रज अपने मस्तक पर धारें—शस्य-श्यामल क्षेत्र की सुशीतल पवन का आनंद लें—निर्मल सरोवरों में स्नान करें—कृषकों की टूटी झोपड़ियों में उनके प्रेमोन्मत्त सरस गान को सुनें—मा जाह्नवी की तरल तरंगों में विहार करें। एक बार पुनः मा की सेवा करें।"

रामकृष्ण ने कुछ नहीं सुना। उन्होंने केवल जाह्नवी का

नाम-भर सुना। जाह्नवी-शब्द सुनते ही उनका हृदय सिहिर उठा। न-जाने क्यों उनके नेत्रों से अजस्र अश्रु-धारा बहने लगी। उनका हृदय अपनी जाह्नवी को देखने के लिये आतुर हो गया। लोगों ने समझा, ये आँसू हर्ष के हैं—किसने जाना कि यह उनके दुःखी हृदय के हैं ?

संध्या आई। नील समुद्र के तट पर जलयान खड़ा था। एक-एक करके सब उसमें बैठ गए। वह चल पड़ा। भारतीय वीरों ने एक बार जय-घोष करके कहा—"वंदेमातरम्।"

सागर की उत्तुंग तरंगों ने भीमनाद से प्रतिध्वनि की—"वंदेमातरम्।"

रामकृष्ण ने कहना चाहा, 'वंदेमातरम्', किंतु वह न कह सके, और उनके मुख से निकल गया—"हाय जाह्नवी !"

(५)

नीरव संध्या के अंधकार में शांतिपुर के स्टेशन पर दो मनुष्य उतरे।

वारींद्र ने रामकृष्ण से कहा—"भाई रामकृष्ण, मैं तो अपने घर जा रहा हूँ। वंदे।"

रामकृष्ण ने वारींद्र का हाथ पकड़ते हुए कहा—"भाई, पहले मेरे घर पर हो लो, फिर जाना। तुम्हारी बीबी तो मर ही गई, फिर किससे मिलने की आतुरता है ? हाँ, तुम कहते थे, तुम्हारी एक नन्ही करुणा है।"

वारींद्र—"हाँ भाई, मेरे बंदी होने के समय में ही पैदा हुई

थी, उसी की प्रसव-पीड़ा में उसकी मा मरी थी। तीन वर्ष हुए। भला बताओ, जिसको अपने जीवन में कभी देखा तक नहीं, जो मेरी प्राणप्यारी की अंतिम भेंट है, उसको देखने के लिये किसका मन आतुर न होगा।"

रामकृष्ण—"ठीक है। लेकिन पहले मेरी जाह्नवी के नन्हें-नन्हे हाथों का पान खाना ही पड़ेगा। और रात भी तो अँधेरी है। कहाँ भटकोगे ?"

वारींद्र—"तभी तो जाने में और मजा आवेगा।"

रामकृष्ण—"तुम्हारी प्रकृति भी विचित्र है !"

वारींद्र—"मैंने बम बनाए थे। अगर प्रकृति विचित्र न होती, तो इतने साहस के काम में कैसे हाथ डालता।"

रामकृष्ण—"व्यर्थ की बात न करो। आज मेरा आतिथ्य स्वीकार कर, चिरकाल के बाद मिलनेवाले सुख में भागी बनकर तब कल जाना। देखो, गाँव भी नज़दीक आ गया।"

वारींद्र—"मेरा गाँव भी तो यहाँ से दो ही कोस रहेगा।"

रामकृष्ण—"अच्छा, कम-से-कम मेरे घर चलकर जल-पान कर लेना। फिर एक आदमी साथ कर दूँगा, उसी के साथ चले जाना।"

वारींद्र—"यह माना।"

रामकृष्ण—"मेरी जाह्नवी को देखकर तुम ख़ुश हो जाओगे। ऐसी सुंदर और चंचल लड़की एक गाँव की कौन कहे, दस-बीस गाँव में नहीं है। जाह्नवी की बुद्धि बड़ी कुशाग्र है। और

पान तो वह बड़ा ही अच्छा लगाती है। तुम्हें देखते ही तुम्हारे पास से हटेगी नहीं। चाचा-चाचा कहकर नाकों दम कर देगी। चाचा यह बात, चाचा वह बात; देखना, कितने प्रश्न-पर-प्रश्न पूछती है।"

रामकृष्ण ! तुम्हारी बड़े प्यार की जाह्नवी क्या इस संसार में है ? कौन जाने। तुम तो अभी तक कालेपानी में सड़ रहे थे। मनुष्य की शक्ति सीमाबद्ध है। हाय रे मनुष्य !

रामकृष्ण का घर गाँव के सिरे पर ही था। उन्होंने देखा, स्थान-स्थान पर उनका घर टूट-फूट गया है। बिलकुल क्षत-विक्षतावस्था में पड़ा हुआ है। दहलीज़ पर पैर धरते ही बड़ी आशा से पुकारा—"जाह्नवी !" ऊपर के खंड का एक कमरा खुला, और उससे टिमटिमाते दीपक का प्रकाश बाहर देखने लगा कि जाह्नवी को कौन पुकार रहा है ?

गायत्री ने सिसकियाँ छिपाते हुए कहा—"कौन ?"

रामकृष्ण ने समझा, गायत्री सो गई होगी। उसने खखार-कर कहा—"मैं हूँ रामकृष्ण।"

गायत्री का हृदय इसे सहन कर सकने के लिये तैयार न था। वह निस्तब्ध वैसी ही खड़ी रही।

रामकृष्ण ने अँधेरे में पहचानने की कोशिश करते हुए कहा—"कौन, जानू की मा ?" गायत्री ज़ोर से रो पड़ी।

रामकृष्ण स्तंभित हो गए। उन्होंने बड़ी कठिनता से पूछा—"रोती क्यों हो। मैं हूँ। जाह्नवी कहाँ है ?"

गायत्री ने रोते-रोते कहा—"वह तुम्हें देखने कालेपानी गई है।" रामकृष्ण की समझ में कुछ न आया। उन्होंने पूछा—"क्या ?"

गायत्री ने रोते हुए कहा—"बेचारी एक साड़ी को तड़प-तड़पकर हम लोगों को छोड़कर चली गई। मैं तुम्हारी धरोहर न रख सकी। उसको खो दिया। आज तीज है। आज ही के रोज मरी थी। उसको गए एक साल बीत गया। हाय रे मेरी प्यारी बेटी, मेरे लाल, मेरे प्राण! हाय! उसे खोकर मैं अब भी जीती हूँ!"

रामकृष्ण में सब सुनने की ताब न थी। वह बैठ गए। वारींद्र किसी तरह उन्हें उठाकर भीतरवाले कमरे में ले गया।

रामकृष्ण ने पोटली खोलते हुए कहा—"भाई वारींद्र, मेरी जाह्नवी तो मर गई। उसके लिये कलकत्ते में एक साड़ी खरीदी थी। उसे अब कौन पहनेगा। यह अपनी करुणा को पहना देना। तुम्हारी करुणा ही अब मेरी जाह्नवी है।"

वारींद्र ने रोते हुए वह साड़ी ले ली। वह साड़ी भी रेशमी थी।

शेष-संबल

(१)

बाबू चंद्रमाप्रसाद की अवस्था जब किसी तरह से न सुधरी, तब वह एक प्रकार से अपने जीवन से निराश हो बैठे। लेकिन उन्हें उस बीमारी की अवस्था में भी शांति न थी। मरने को न डरते थे। वह मरने के लिये तैयार थे। लेकिन अगर किसी बात की चिंता थी, तो वह अपनी सहधर्मिणी सुंदरी की। वह सोचते कि यह भार किसको सौंप जायँ। वह अकेले ही थे। परिवार में ख़ाली एक वृद्धा माता थी। जानते थे कि वह भी उनके मरने के बाद थोड़े ही दिन में चल बसेगी। तब उनकी स्त्री का क्या होगा। यही चिंता उनको रात-दिन परेशान किए रहती। सुंदरी को जब देखते, तब उसी की ओर देखा करते।

आज भी उसी तरह एकटक पति को अपनी ओर देखते देख सुंदरी ने पूछा—"इस तरह मेरी ओर क्या देख रहे हो?"

चंद्रमाप्रसाद ने ठंडी साँस लेकर कहा—"तुम्हारा रूप।" सुंदरी ने शर्म से अपनी निगाहें नीची कर लीं।

फिर चंद्रमाप्रसाद ने पूछा—"मेरे बाद तो तुम...?" सुंदरी ने और न कहने दिया। अपने नन्हे-नन्हे हाथों से उनका मुख

बंद कर दिया। उसने फिर आँखों में आँसू भरकर कहा—"क्यों ऐसी बातें कहकर मेरा दुःख बढ़ाते हो। मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है। मुझसे ऐसी बातें न कहा करो।"

चंद्रमाप्रसाद ने कहा—"इसमें बुरी बात कौन-सी है। मैं अपनी दशा देखकर समझ रहा हूँ कि मैं थोड़े ही दिनों का हूँ। यह ज्वर जब मुझे किसी तरह नहीं छोड़ता है, तब कैसे मैं अपने जीवन का भरोसा करूँ। थाइसेस (यक्ष्मा) मुझे निश्चय है। अब मैं नहीं बचने का। मुझे रात-दिन यही चिंता है कि मेरे बाद तुम क्या करोगी, कैसे अपना जीवन व्यतीत करोगी।"

सुंदरी ने रोते-रोते कहा—"यही सब व्यर्थ की बातें सोच-सोचकर तो तुम और अपनी हालत ख़राब कर रहे हो। कौन कहता है कि तुम्हें थाइसेस है। तुम्हें पित्तज्वर है। थोड़े दिनों में अच्छा हो जायगा। मेरे कहने से ईश्वर के लिये यह सब कुछ न सोचो।"

चंद्रमाप्रसाद ने एक ठंडी साँस लेकर कहा—"ये सब फ़िज़ूल की बातें हैं। मेरे नाम चित्रगुप्त के यहाँ से वारंट निकल गया है। दो-तीन महीने बाद ही वहाँ पर हाज़िरी देनी पड़ेगी। मेरे बाद तुम्हारा क्या होगा?"

सुंदरी ने रोते-रोते अपना मुख चंद्रमाप्रसाद के वक्षःस्थल पर रख दिया। चंद्रमाप्रसाद उसके बालों को सुलझाने लगे। फिर चंद्रमाप्रसाद ने धीरे-धीरे कहा—"तुम मुझे भूलने का

यत्न करना। अगर कभी भूल सको, तो अपना दूसरा विवाह कर लेना।"

सुंदरी ने आहता फणिनी की भाँति गर्व से सिर उठाकर कहा—"चुप रहो। ऐसी बातें मैं नहीं सुनना चाहती।" चंद्रमाप्रसाद संतोष की हँसी हँसने लगे। सुंदरी उठकर जाने लगी। चंद्रमाप्रसाद ने उसे न रोका। जाने दिया। सुंदरी आँसू-भरी आँखों-सहित चली गई। चंद्रमाप्रसाद सोचने लगे—

"वह मेरी ऐसी बातें सुनते ही रो पड़ती है। आह! वह मुझे कितना प्यार करती है। मेरे लिये जान देने के लिये तैयार है, और मैं......मैं थोड़े ही दिनों का मेहमान हूँ। हाय! भगवन्, क्या तुम्हें यही करना अभीष्ट था कि एक नवयुवक और नवयौवना की वासनाएँ अतृप्त रख, दोनो को जुदा कर दो। किन पाप-कर्मों से ऐसा दंड दे रहे हो दयामय! मुझे कुछ दिनों तक और जीवित रहने दो, उसे प्यार कर सुख भोग कर लेने दो, फिर......मुझे मरने में भी आनंद मिलेगा। मैं सहर्ष मर जाऊँगा, केवल एक साल और जीवित रह जाने दो।"

चंद्रमाप्रसाद न-मालूम कितनी देर तक इन्हीं विचारों में मग्न रहते कि उनके परम मित्र रामशंकर ने कमरे के अंदर आकर कहा—"भाई साहब, आज कैसी तबियत है?"

चंद्रमाप्रसाद ने चौंककर कहा—"कौन, रामशंकर?"

रामशंकर ने हँसते हुए कहा—"हाँ, श्रीयुत रामशंकरजी पधारे हैं। कहिए?"

चंद्रमाप्रसाद ने एक ठंडी साँस लेकर कहा—"भाई, रामशंकर !"

चंद्रमाप्रसाद की आँखों में आँसू भर आए।

रामशंकर की आकृति उन आँसुओं को देखते ही बदल गई। मुख की हँसी चली गई। उन्होंने गंभीरता-सहित कहा—"चंद्रमा ! यह क्या बात है ! अब कैसी तबियत है ?"

चंद्रमाप्रसाद ने कहा—"तबियत का अब क्या हाल पूछते हो। एक तरह से अच्छा ही हूँ।"

रामशंकर ने कहा—"एक तरह के क्या मानी। कहिए न!"

चंद्रमाप्रसाद ने एक शुष्क हँसी हँसकर कहा—"थाइसेस के रोगी की तबियत ! वह तो हमेशा खराब रहती है, जब इससे छुटकारा मिलता है, तभी अच्छी होती है, और फिर अच्छी होती है हमेशा के लिये।"

रामशंकर ने किंचित् क्रोध-सहित कहा—"कौन कहता है कि तुम्हें थाइसेस है। तुम्हें थाइसेस नहीं है, निश्चय जान रक्खो। तुम्हें किसने बहका दिया है ? भाभी !"

चंद्रमाप्रसाद ने कहा—"अरे, उसे न बुलाओ। उसने नहीं कहा। किसी ने नहीं कहा। कहनेवाला है मेरा मन। न-मालूम कौन रह-रहकर मेरे दिल में कहता है कि तुम्हें थाइसेस निश्चय ही है, ये लोग तुम्हें बहका रहे हैं। और मैं भी तो कुछ बेवक़ूफ़ नहीं हूँ, Symptoms देखकर मैं भी जान सकता हूँ कि यह थाइसेस है या नहीं।"

रामशंकर ने अपनी हँसी से कमरे को प्रतिध्वनित करते हुए कहा—"वाह भाई वाह ! डॉक्टर-वैद्य कहें पित्तज्वर और आप समझे बैठे हैं थाइसेस। ख़ूब ! अजी जनाब, अगर आप ऐसा ही समझते रहेंगे, तब शायद अवश्य आपको थाइसेस हो जाय ! मैं भी बाज़ी रखकर कह सकता हूँ कि आपको थाइसेस नहीं है। क्या फ़िज़ूल की बातें लगाए हो।"

चंद्रमाप्रसाद ने कहा—"यों तो बेवक़ूफ़ मैं भी बना सकता हूँ।"

सुंदरी ने कमरे में प्रवेश करते हुए कहा—"क्या है ? क्यों बुलाया ?"

चंद्रमाप्रसाद ने जल्दी से कहा—"बुलाया नहीं। कुछ काम नहीं है। जाओ।" सुंदरी जाने लगी।

रामशंकर ने कहा—"भाभी ! तुमने कुछ सुना है, भाई साहब कहते हैं कि मुझे थाइसेस है। ज़रा इनका पागलपन तो सुनो !"

सुंदरी ने रुककर कहा—"हाँ, मुझसे भी ऐसा ही कह रहे थे। बराबर यही धुन लगाए हैं कि थाइसेस है, थाइसेस है। तुम्हीं समझाओ। मैं तो कहते-कहते हार गई।"

चंद्रमाप्रसाद अपराधी की तरह चुप पड़े रहे !

रामशंकर ने कहा—"न-मालूम किसने इन्हें यह सुझा दिया है।"

सुंदरी चली गई।

चंद्रमाप्रसाद ने धीरे-धीरे कहा—"रामशंकर, क्या मैं तुम पर विश्वास कर सकता हूँ ?"

रामशंकर ने कहा—"भाई, क्या आज तक कभी मैं तुम्हारा अविश्वास-भाजन बना हूँ ?"

चंद्रमाप्रसाद ने एक ठंडी साँस लेकर कहा—"नहीं तो, लेकिन......।" चंद्रमाप्रसाद कहते-कहते रुक गए।

रामशंकर ने कहा—"लेकिन क्या ?"

चंद्रमाप्रसाद कुछ देर रामशंकर की ओर देखते रहे। फिर दुःख-भरे स्वर से कहा—"आज मैं तुम पर एक भार डालना चाहता हूँ। वह भार ऐसा-वैसा नहीं है। वह ऐसा कठिन है, जिसे सँभालना मुश्किल ही नहीं, वरन् कुछ असंभव-सा भी है। बोलो, उस भार को लेने में समर्थ होगे ?"

रामशंकर ने तीक्ष्ण दृष्टि से चंद्रमाप्रसाद के हृदय की बात जान लेने का यत्न किया। उन्होंने सहज स्वर में कहा—"वह कौन-सा भार है। तुम जो भार भी दोगे, चाहे जैसा कठिन हो, मैं सहर्ष उसे अपने सर पर लूँगा। तुम्हारी आज्ञा मेरे लिये दैव-आज्ञा है।"

चंद्रमाप्रसाद ने संतोष की एक ठंडी साँस लेकर कहा—"वह अग्नि से खेलने के तुल्य है।"

रामशंकर ने दृढ़ स्वर में कहा—"वह चाहे बारूद से खेलने के तुल्य क्यों न हो, मुझे सब स्वीकार है। कहो तो।"

चंद्रमाप्रसाद कुछ देर तक शून्य दृष्टि से देखते रहे। फिर

उन्होंने कहा—"अच्छा, रहने दो। फिर कभी देखा जायगा। अभी कौन जरूरत है।"

रामशंकर ने भी कुछ नहीं कहा।

(२)

मनुष्य के दिन चले ही जाते हैं। चाहे वे दिन सुख के हों, चाहे दुख के। सुख के दिन बड़ी आसानी से, जल की तरह, जाते हैं, और दुख के दिन बड़ी कठिनता से—यही भेद है।

जिस तरह से चंद्रमाप्रसाद के दिन कटे, वही जानते हैं। या उसका कोई भुक्त-भोगी। चंद्रमाप्रसाद की अवस्था दिन-पर-दिन खराब होती ही गई। लोगों का अनुमान था, शायद अच्छे हों, शायद दशा सुधर जाय, लेकिन वह धीरे-धीरे काल की ओर अग्रसर होने लगे। डॉक्टर, वैद्य आते और आशा दिलाकर चले जाते, लेकिन फ़ायदा कुछ भी नहीं होता नज़र आता। नए वैद्य, हकीम, डॉक्टर की दवा एक-दो दिन अपना असर दिखाती, और फिर वही दशा हो जाती। उनका बदन सूखकर काँटा हो गया था। थाइसेस की थर्ड स्टेज थी। बहुतों को अब भी आशा थी, और बहुतों को निराशा। बेचारे उठने-बैठने से लाचार थे। जिस हैरानी-परेशानी से वह दिन काट रहे थे, वही जानते थे।

चंद्रमाप्रसाद ने करवट बदलते हुए कहा—"मेरी एक बात सुनो।"

सुंदरी ने मलिन दृष्टि निक्षेप करके कहा—"कहो।"

चंद्रमाप्रसाद—"अब मैं बचने का नहीं।"

सुंदरी ने आँखों की नदी को रोकते हुए कहा—"तुम्हारी ये ही बातें रहती हैं। इसके सिवा क्या और कुछ कहना नहीं जानते, या कहते नहीं।"

चंद्रमाप्रसाद ने एक शुष्क हँसी की चेष्टा करते हुए कहा—"और क्या कहूँ प्यारी!"

सुंदरी ने कहा—"और कुछ कहो। और कुछ सोचो।"

चंद्रमाप्रसाद ने कहा—"और क्या सोचूँ। तुम्हारे ही बारे में रात-दिन सोचा करता हूँ।"

चंद्रमाप्रसाद ने सप्रेम सुंदरी का हाथ पकड़ लिया।

सुंदरी ने आँखों में आँसू भरकर कहा—"हमारे बारे में क्यों इतना सोचा करते हो, जिस तरह से तुम्हें शांति मिले, जिस तरह से तुम्हें संतोष हो, वही मैं करने के लिये तैयार हूँ। कहो। मेरे ही बारे में सोचकर तुमने अपनी यह दशा कर डाली। न-जाने किस कुघड़ी मैं यहाँ आई थी?"

चंद्रमाप्रसाद ने सप्रेम सुंदरी को अपनी ओर घसीटकर उसका मस्तक अपने वक्ष पर रख लिया। फिर शुष्क बालों को सुलझाते हुए कहा—"प्यारी, मैं क्या तुम्हारा विश्वास करूँ, क्या तुम मेरे बाद......।"

सुंदरी ने अपने नन्हे-नन्हे हाथों से चंद्रमाप्रसाद का मुँह ढक लिया।

चंद्रमा ने धीरे-धीरे उसका हाथ हटाते हुए कहा—"देखो! मेरे नाम को कलंकित न करना, कोई काम ऐसा न करना,

जिसमें मेरे पिता के और मेरे कुल के उज्ज्वल नाम में कलंक की कालिमा लग जाय ! तुम नवयुवती हो, सुंदरी हो। संसार के प्रलोभन तुम्हें अपनी ओर खींचेंगे, और खींचेंगे इतने ज़ोर से कि शायद तुम अपने को सँभाल न सको। और उनमें फँस ही जाओ। अगर मेरे सुख से मरने में कोई बाधा है, तो वह है एक तुम्हारी चिंता !"

सुंदरी अपनी गर्दन नीची किए सुनती रही।

चंद्रमाप्रसाद ने फिर कहना शुरू किया—

"प्रिये ! अभी तुम संसार की गहरी चालों को जानती नहीं हो। संसार अभी तुमने देखा नहीं। जिस संसार को तुम सुखमय समझती हो, वास्तव में वह दुःखमय है। सांसारिक सुख ऊपर से सुख है, लेकिन अगर उसका भीतरी भाग देखो, तो सिहिरकर पीछे हट जाओगी। जिन्हें तुम सुख समझती हो, वास्तव में वे दुःख हैं। संसार इतना गहन है कि उसका समझना टेढ़ी खीर है। देखो, मैं तुम्हें उसी संसार में अकेले रखकर चला जा रहा हूँ। मेरा कर्तव्य था कि तुम्हें संसार के गहन मार्ग से तुम्हारा हाथ पकड़कर निकाल ले चलता, लेकिन वह कर्तव्य भगवान् ने पूरा करने ही नहीं दिया। प्राणेश्वरी, सतर्क हो जाओ, उसी गूढ़तम मार्ग से तुम्हें अकेले चलकर जाना होगा, बोलो, समर्थ होओगी ?"

सुंदरी अपना मुख नीचे किए रही। उसकी आँखों से अजस्र अश्रु-धारा निकल रही थी।

चंद्रमाप्रसाद ने फिर कहा—"बोलो, प्राणेश्वरी, मुझे आश्वासन दो, शांति दो, बोलो। कभी प्रलोभनों के चक्कर में तो नहीं पड़ोगी, कभी मेरे नाम पर—अपने पूर्वजों के नाम पर कलंक-टीका तो नहीं लगाओगी ?"

सुंदरी ने दृढ़ स्वर में कहा—"नहीं।"

इसी समय रामशंकर ने आकर कहा—"भाई साहब, कहिए, कैसी तबियत है ?"

चंद्रमाप्रसाद ने चौंककर कहा—"कौन, रामशंकर, अच्छा हुआ, जो तुम इस मौक़े पर आ गए।"

रामशंकर ने आश्चर्य-भरी दृष्टि से कहा—"कैसा मौक़ा ?"

चंद्रमाप्रसाद ने कहा—"इसी मौक़े पर तुम्हारी ज़रूरत थी। रामशंकर, तुम जानते हो, मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ। मेरे भाई न था, लेकिन तुमको पाकर मैं भाई का अभाव भूल गया हूँ। मैं तुम्हें भाई से भी अधिक प्यार करता हूँ। भाई हो, तो तुम हो; मित्र हो, तो तुम हो। आज से कुछ दिन पहले मैंने तुम्हें एक भार देना चाहा था, लेकिन मैंने उस समय कुछ कहा नहीं था, उस समय कुछ मेरे मन में भी आशा थी। मैं समझता था, शायद मेरी बीमारी अंतिम दशा तक नहीं पहुँची। लेकिन अब मुझे मालूम होता है कि मैं संसार में........।"

रामशंकर ने बीच ही में टोककर कहा—"भाई साहब !"

चंद्रमाप्रसाद ने एक गहरी साँस लेकर रामशंकर की बात को काटकर कहा—"रामशंकर, रोको नहीं। मुझे कहने दो

हाँ, मैं कह रहा था कि मैं संसार में कुछ ही दिनों का मेहमान हूँ। अब तुम्हारी बातें मुझे धोखे में नहीं रख सकतीं। मैं अपनी दशा अच्छी तरह समझता हूँ। ख़ैर! हाँ, तो मैं थोड़े दिनों का मेहमान हूँ। तुम्हारी भाभी अभी नवयौवना हैं, अनभिज्ञ हैं। संसार क्या चीज़ है, नहीं जानतीं। जान भी कैसे सकती हैं। ये इनके खेलने-खाने के दिन हैं। गृहस्थी के फेर में तो पड़ीं नहीं। इनके लिये संसार मेरे बाद शून्य होगा। जब मैं इनकी दशा को सोचता हूँ, तो मेरा मन काँप जाता है। मेरे बाद कोई इनकी दशा को देखनेवाला चाहिए। कोई इनको कुमार्ग से बचाए रहे। सदा सत्पथ पर चलाए रहे। मा से मुझे कुछ भी उम्मीद नहीं। वह भी कितने दिनों की हैं। मेरे बाद जितने दिन जी जायँ, उतने दिन ग़नीमत समझो। फिर उनके बाद इनको देखनेवाला कौन होगा? कोई नहीं। इसीलिये मैं तुमको यह भार दे जाना चाहता हूँ। मुझे तुम पर पूर्ण विश्वास है, और तुम भी शायद इस कठिन भार को लेने में किसी क़िस्म की हिचकिचाहट प्रकट नहीं करोगे।"

इतना कहकर चंद्रमाप्रसाद रामशंकर की ओर देखने लगे। रामशंकर की आँखों में आँसू भरे हुए थे। वह भी चंद्रमाप्रसाद के जीवन से निराश हो चुके थे, लेकिन अपने प्राणोपम मित्र को ख़ुश करने या उनकी चिंता को दूर रखने के लिये सदा ऊपरी मन से ख़ुश रहते। हमेशा चंद्रमाप्रसाद से छेड़-

छोड़ किया करते। लेकिन चंद्रमाप्रसाद की आज की बातों को सुनकर तथा देखकर उनके जीवन से वह भी निराश हो गए। उन्होंने पृथ्वी को अपने पैर के नाख़ूनों से खुरचते हुए कहा—"भाई, आप जो भी मेरे लिये काम दे जायँगे, मैं सदा उसे ठीक तौर पर करने का यत्न करूँगा। भाभी क्या मेरे लिये दूसरी हैं। यह मेरी मा हैं।"

चंद्रमाप्रसाद के मलिन चेहरे पर ख़ुशी के लक्षण प्रकट होने लगे। उन्होंने सप्रेम रामशंकर का हाथ अपने हाथ में लेकर दबाते हुए कहा—"भाई रामशंकर, मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी। तुम भी सुखी रहो। भगवान् से यही मेरी प्रार्थना है। भगवान् तुम्हें सद्‍बुद्धि प्रदान करके सन्मार्ग पर रक्खें। मेरे सिर से एक भयानक बोझ हट गया। रामशंकर, मैं नहीं जानता कि मैं किन शब्दों में तुम्हें धन्यवाद दूँ।"

रामशंकर ने कहा—"भाई साहब, आप मुझ पर विश्वास करके जो भार दे रहे हैं, उस भार को मैं सहर्ष अपने सिर लेता हूँ। आपने जो विश्वास किया है, मैं कभी उसका अनुचित व्यवहार नहीं करूँगा।"

चंद्रमाप्रसाद के नेत्र आनंद से चमकने लगे।

रामशंकर ने सुंदरी के पैरों पर हाथ रखकर कहा—"भाभी, आज से तुम मेरी मा के तुल्य हो। मैं तुम्हारे चरणों की क़सम खाकर कहता हूँ कि मैं तुम्हें सदा इसी दृष्टि से देखूँगा। और तुम भी मुझे संतानवत् जानना।"

चंद्रमाप्रसाद की आँखों से कृतज्ञता के आँसू निकलने लगे।

(३)

चंद्रमाप्रसाद न बचे। उन्हें महाराज यमराज के यहाँ जाना ही पड़ा। लेकिन जाते वक्त वह निश्चिंत थे। वह अपना वह अमूल्य भार अपने चिरविश्वासी रामशंकर के हाथों में सौंप गए थे, जिसकी चिंता उन्हें सदा रहा करती थी। उन्होंने अपना प्राण अपनी स्त्री की गोद में छोड़ा। सुंदरी की आँखों से अजस्र आँसुओं की धारा बह रही थी, और रामशंकर? रामशंकर सौम्य थे, शांत थे, लेकिन आँखों में आँसू भरे हुए थे। अंतिम बार चंद्रमाप्रसाद ने हिचकियाँ लेते हुए कहा—"रामशंकर, अपनी प्रतिज्ञा भूल मत जाना। इसका भार तुम्हारे ऊपर रहा। रामशंकर ने फिर एक बार अपनी प्रतिज्ञा दोहरा दी, और बेचारे चंद्रमाप्रसाद चले गए। हाँ, सदा के लिये चले गए!

अभागिनी चंद्रमाप्रसाद की मा के ऊपर वज्र टूट पड़ा। अभागिनी का अमूल्य माणिक्य जिसको उसने धूप से, सर्दी से बचाकर अपनी छाती लगाकर इतना बड़ा किया था, वही धन उसका चला गया। अभागिनी के रोने के सिवा और कुछ चारा न था। वह रो-रोकर अपने दिन काटने लगी। उसको जीवन से स्पृहा न थी, संसार से नाता न था—और अगर कुछ था, तो वह सुंदरी तक। नौजवान और खूबसूरत बहू को

लेकर बड़ी आफ़त में पड़ी। वह कहती कि अगर यह अभागी न होती, तो मैं भी निश्चिंत होकर काशी-वास करती, लेकिन इसको लेकर मैं कुछ भी नहीं कर सकती। संसार तो बिगड़ ही गया, अब परलोक भी बिगड़ेगा। सुंदरी के बाप के कुल में भी कोई न था। मा मर ही चुकी थी। बाप थे, लेकिन वह भी चंद्रमाप्रसाद की मृत्यु के साल-भर पहले गंगा-लाभ कर चुके थे। अभागिनी सुंदरी न-जाने कौन-सा फूटा भाग्य लेकर संसार में आई थी।

चंद्रमाप्रसाद को मरे हुए चार महीने बीत गए। हँसते हुए दिन आए, और हँसते ही हुए चले गए। लेकिन सुंदरी सूखकर काँटा हो गई थी। एक तो पति-शोक और फिर दूसरे सासजी को घुड़कियाँ-धमकियाँ और आक्षेप। विधवा का जीवन कितना दुःखमय है, भगवन्!

संध्या के चार बज चुके हैं। आज सुंदरी ने अभी तक कुछ खाया नहीं। आज सुबह ही सासजी ने कुछ कठोर बातें कह डाली थीं, बेचारी की रोते-ही-रोते दोपहर बीत गई। फिर सो गई। रोने के बाद नींद आती है। अभागिनी सो गई। जब नींद उचटी, तो चार बज चुके थे। उठकर विगत घटनाएँ सोचने लगी। उन सुखमय दिनों की मधुर स्मृति ही को याद करके अपने दुख को कम कर लेना चाहा। एकाएक सासजी ने आकर कहा—"बहू, आज तुमने अभी तक खाया नहीं?"

सुंदरी ने चौंककर कुछ रुँधे गले से कहा—"नहीं अम्मा-जी ! सो गई थी, अभी उठी हूँ।"

सुंदरी के बदन से सारी गिर पड़ी थी। एक-एक हड्डियाँ दिखलाई दे रही थीं। उसको ऐसा अन्यमनस्क और बेहोश देखकर सासजी ने कहा—"बहू, आज क्या है ? खाया क्यों नहीं ?"

सुंदरी की गड्ढे में घुसी हुई आँखों से अश्रु-धारा निकलने लगी। वह सूखी देह और हड्डियों को देखकर वृद्धा का मन कुछ द्रवित हो गया था, और फिर आँसू देखकर उसके भी दुखी मन में और आघात लगा। आज पहलेपहल उसने सप्रेम सुंदरी के शरीर पर हाथ फेरते हुए कोमल, स्निग्ध अवरुद्ध कंठ से कहा—"बहू ! इस बुढ़िया पर अभिमान करके नहीं खाया ? मैं ही कितने दिनों की हूँ। मेरे जी का कुछ ठीक नहीं है। मैं तो एक तरह से पगली हो गई हूँ। मैं जो कहा करूँ, उस पर कभी ध्यान न दिया करो।"

सास की ये स्नेह की बातें सुनकर सुंदरी का जी भर आया, वह ज़ोर से रो पड़ी। सास ने उसको अपनी छाती से लगाकर कहा—"बहू, रोओ नहीं। रोने से क्या होगा। तुम भी लुट गईं, और मैं तो कंगाल हो ही गई। हम-तुम दोनो एक दूसरे को देखकर लाओ अपने दुख को भूल जायँ। संसार में जब रहना है, तो बग़ैर खाए काम नहीं चलने का। उठो, चलो खा आओ जाकर।"

सुंदरी ने रोते-रोते सास के पैरों पर अपना सिर रख दिया।

हिचकियाँ लेते हुए कहा—"मा, मैं बड़ी अभागिनी हूँ। पैदा होते-होते ही मा को खा गई, विवाह के बाद पिता को और अब अप......।" अभागिनी और आगे न कह सकी, बड़ी जोर से रो पड़ी।

वृद्धा ने कहा—"बहू, जो होना था, वह हो गया। सब करम-दोष है। धीरज धरो। भगवान् को याद करो। उनके सिवा कुछ और उपाय नहीं है।"

सुंदरी ने फिर कहना शुरू किया—"माजी, मैं नहीं जानती कि मैं अपने को क्यों नहीं खा जाती? मुझे ही न-जाने क्यों काल नहीं घसीटता?"

वृद्धा ने एक मीठी झिड़की देते हुए प्यार से कहा—"यह कोई कहता है बहू। हाँ, विधवा को तो मरना ही ठीक है, लेकिन आदमी तभी मरता है, जब काल आता है। कोई मनाने से नहीं मरता। जब उनका पीछा हुआ था, तब कितना ही मनाया, न मरी, और जब हमारा लाल चला गया, तब से मना रही हूँ, लेकिन मरने की कौन कहे, बुख़ार तक नहीं आता। हाय! मेरा लाल बुखार में कुढ़-कुढ़कर मरा था, और मुझे बुख़ार आता ही नहीं।" वृद्धा रोने लगी। सुंदरी भी रोने लगी। रोते-रोते जब जी हलका हुआ, तो दोनो नीचे उतरीं।

उस दिन के बाद से सास का व्यवहार न-जाने क्यों बहू की ओर अच्छा होने लगा। सुंदरी का शोक दिन-पर-दिन कम होने लगा। वह खा-पीकर फिर स्वस्थ हो गई। गया हुआ

यौवन क्रमशः फिर लौट आया। गालों पर लालिमा झलकने लगी। मुहल्लेवाली औरतों से गप्प कर दिन काटने लगी। चंद्रमाप्रसाद की स्मृति धीरे-धीरे विस्मृति के अंधकार में विलीन होने लगी। सुंदरी भी बदल गई। सुंदरी अब वह कृशांगी, मलिन-वसना, रुक्षकेशिनी सुंदरी नहीं रही।

बल्कि आजकल सुंदरी अति सुंदरी थी। वही चंचलता, वही प्रसन्नता, वही चितवन, जो चंद्रमाप्रसाद के जीवित रहने पर थी, वही अब धीरे-धीरे सब आ गई थी। वृद्धा सास ने परवा करना एक तरह से छोड़ ही दिया था। वह अपने ही शोक में दिन-भर मगन रहा करती। भगवान् से रात-दिन प्रार्थना किया करती कि देव, अब तो मुझे इस नरक से छुड़ा। सुंदरी क्या कभी अपने भूत स्वामी की याद नहीं करती थी? नहीं, ऐसा कहना भूल होगा। वह कभी-कभी याद करती, और जब याद आती, तो रोती खूब।

दोपहर का समय है। दुःख से मर्माहता विधवा सुंदरी पड़ोस की एक सखी के यहाँ पहुँची। सखी का नाम था गौरी। गौरी बाबू राधामोहन की स्त्री थी। वह भी सुंदरी की हम-जोली सखी थी। बाबू राधामोहन स्थानीय बैंक में १२५) मासिक के कर्मचारी थे। बाबू राधामोहन को इस मुहल्ले में आए कोई तीन ही चार महीने बीते थे, लेकिन इन्हीं दिनों के बीच गौरी और सुंदरी में बहुत बहनापा हो गया था। सुंदरी को देखकर गौरी उठती हुई बोली—"अरे, आज न-

मालूम किसका मुँह देखकर उठी थी, जो आप तशरीफ़ लाईं।"

सुंदरी ने हँसते हुए कहा—"अपने उन्हीं का मुँह देखकर उठी होगी।"

गौरी ने एक लज्जा-भरी मुस्कान-सहित कहा—"उनका मुँह तो रोज़ ही मैं देखकर उठती हूँ। आओ, बैठो।"

सुंदरी जाकर पलंग पर, गौरी की बग़ल में, बैठ गई।

गौरी ने कहा—"बहन, कहो, अच्छी तो हो?"

सुंदरी ने एक ठंडी साँस लेकर कहा—"हम विधवों की भली चलाई। अच्छी रहें, तो बला से; न अच्छी रहें, तो बला से। अभागा दई भी नहीं पूछता।"

गौरी ने किंचित् मलिन मुख से कहा—"बहन, ईश्वर की इच्छा में कुछ चारा नहीं है। जो वह कराएगा, करना ही पड़ेगा।"

सुंदरी ने कहा—"ईश्वर की भी तुमने भली चलाई! बहन, मेरा तो विश्वास उसी दिन से ईश्वर पर से, देवी-देवताओं पर से, उठ गया, जिस दिन उन्होंने अपने प्राण......।"

अभागिनी सुंदरी और कुछ न कह सकी। उसकी आँखों में आँसू भर आए।

गौरी उसकी आँखों को पोंछते हुए बोली—"यह भी कोई बात है? ईश्वर की इच्छा ही थी, जो ऐसा हुआ। ईश्वर पर विश्वास न करोगी, तो किस पर करोगी? वही हम लोगों का एक सहारा है।"

सुंदरी ने कहा—"वह सहारा तुम लोगों के लिये है ! मेरे लिये नहीं । मैंने कितने देवों की पूजा मानी थी, कितनी देवियों के चरणों पर माथा घिसा था, कितने ही दिन भूखे रह-कर व्रत किया। रात-दिन प्रार्थना करती कि वह अच्छे हो जायँ, लेकिन न हुए। मेरे सब पूजा-व्रत, धरम-करम निष्फल गए। ऐसे अंधे-बहिरे ईश्वर से मेरा कुछ भी सरोकार नहीं है। मेरा तो विश्वास है कि ईश्वर करके कोई चीज़ दुनिया में नहीं है। सिर्फ़ लोगों का यह भ्रम है, या कवियों की कल्पना।"

गौरी—"अगर ईश्वर नहीं है, तो संसार का काम कैसे चलता है?"

सुंदरी—"तुम्हीं बताओ, कौन काम ईश्वर करता है? संसार का जितना काम-काज है, सब आदमी करता है। खाना-पीना, सोना-जागना, रुपया पैदा करना, दान, दया, धर्म, सभी तो आदमी करता है, ईश्वर कहाँ करने आता है?"

गौरी—"लेकिन पानी बरसाना, न बरसाना; जिलाना-मारना, सुखी रखना, दुखी रखना—यह कौन करता है?"

सुंदरी—"यह सब अपने आप होता है। ईश्वर कुछ नहीं करता। गरमी से भाप बनी, वही बादल होकर पानी बरसती है। यह शरीर एक मशीन है। जैसे मशीन का एक पुरज़ा बिगड़ जाता है, तो मशीन का चलना बंद हो जाता है, उसी तरह जब इस शरीर में भी कोई पुरज़ा बेकाम हो जाता है,

तो मनुष्य भी बेकाम हो जाता है, यानी साँस लेना बंद हो जाता है, इसी को मनुष्य मरना कहते हैं। रहा सुख-दुख, वह तो स्थितियों पर निर्भर है। ईश्वर का ईश्वरत्व तो मैं कहीं नहीं देखती। यदि ईश्वर होता, तो कितनी स्त्रियाँ, जिन्होंने अपनी जान में कोई पाप नहीं किया, प्रसव की पीड़ा में क्यों मर जातीं? यदि ईश्वर होता, तो इतने अबोध, निष्पाप शिशु क्यों अपनी माता की गोदी सूनी करके चले जाते। यदि ईश्वर होता, तो संसार में इतना अत्याचार, पाप भी नहीं होता। क्या यह ईश्वरत्व है कि एक आदमी भूखों मरे, और एक आदमी सुख से रहे। क्या यह ईश्वरत्व है कि वे बालिकाएँ जिन्होंने अभी तक यह भी नहीं जाना कि संसार क्या चीज़ है, जिन्होंने पति का मुख भी नहीं देखा, विधवा होकर अपना सारा जीवन काटें। यदि तुम्हारे ईश्वर का ईश्वरत्व इसी में है, तो ऐसे ईश्वर को दूर से प्रणाम।"

गौरी ताज्जुब से सुंदरी की ओर देख रही थी। वह सोच रही थी कि क्या यह वास्तव में वही उसकी पुरानी सखी है, या और कोई। उसने कहा—"बहन, यह तुमने कहाँ सीखा? अब तो तुम बड़ी लेक्चर झाड़नेवाली हो गईं। तुम चाहे ईश्वर में विश्वास न करो, मैं तो करती हूँ, और करूँगी। मेरी ताक़त नहीं कि मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दे सकूँ। लेकिन इतना जानती हूँ कि ईश्वर है।"

सुंदरी—"तुम जानती हो, विश्वास करती हो, तो करो।

तुम सुखी हो, तुम्हारे लिये ईश्वर है; मैं दुखी हूँ, मेरे लिये ईश्वर नहीं है।"

गौरी—"नहीं, यह तुम्हारी भूल है। ईश्वर सबके लिये है। वह दुखियों के लिये तो और है, क्योंकि वह दीन-बंधु है। जिससे संसार घृणा करता है, उसे वह प्यार करता है। संसार में जिसका कोई रक्षक नहीं, उसका वह रक्षक है। ख़ैर, हटाओ भी इन बातों को, तुम नहीं मानतीं, न मानो। कहो, तुम्हारी सासजी तो अच्छी तरह हैं ?"

सुंदरी—"हाँ, अच्छी ही हैं। कहो, आजकल तुम्हारी कैसी कटती है ?"

गौरी (हँसती हुई)—"कुछ पूछो न बहन! उनके मारे तो मुझे दम-भर चैन नहीं मिलता। कल कहा था कि मुझे लखनऊ दो-चार दिन हो आने दो, वह इसी बात पर रूठ गए। बोलते ही नहीं। कहते हैं, लखनऊ जाओ, मुझसे पूछने का क्या काम। तुम्हें कोई रोके थोड़े ही है। तुम हमें प्यार करती होतीं, तो जाने का कभी नाम ही न लेतीं।"

सुंदरी की आँखों के सामने अतीत का एक चित्र खिंच गया, जब वह विवाह के बाद आई थी, ठीक यही शब्द चंद्रमाप्रसाद ने भी कहे थे। हाय! आज उससे ऐसे प्रेम की अभिमान-भरी बातें कहनेवाला कोई नहीं है। उसकी आँखों में आँसू छल-छला आए। उनको उसने छिपाकर कहा—"तब तो तुम्हें बहुत प्यार करते हैं ?"

गौरी ने साभिमान कहा—"जान तो ऐसा ही पड़ता है। उन्हें मेरे बग़ैर पल-भर भी चैन नहीं पड़ती। ऑफ़िस से जब आते हैं, घर ही पर रहते हैं। मेरे पीछे-पीछे घूमा करते हैं। दोस्तों के आने पर कहला देते हैं कि हैं नहीं। मैं कितना ही कहती हूँ कि जाओ, वह जाते ही नहीं। कहते हैं, अगर तुम्हें बड़ी उनसे सहानुभूति है, तो तुम चली जाओ मेरी एवज़ में। मैं भी चुप हो जाती हूँ। देखो ठहरो, मैं तुम्हें उनके ख़त दिखलाती हूँ, जिनको उन्होंने शादी के बाद लिखा था। ठहरो, मैं ले आऊँ।"

यह कहकर गौरी चिट्ठियाँ निकालने चली गई। सुंदरी अपनी और गौरी की दशा का मिलान करने लगी।

गौरी ने आकर एक बहुत बड़ा चिट्ठियों का बंडल खोलते हुए कहा—"देखो बहन, यह कितनी बड़ी-बड़ी चिट्ठियाँ हैं। रोज़ मेरे पास एक चिट्ठी आया करती थी, और रोज़ एक चिट्ठी जाया करती थी। अगर एक चिट्ठी में ज़रा-सी भी देरी हो गई, तो दूसरे दिन तार आता था।"

यह कहकर गौरी ने एक चिट्ठी खोलकर पढ़ना शुरू कर दिया। चिट्ठियों में सजीव प्रेम भरा हुआ था। प्रेम शब्द-शब्द से चुआ पड़ता था। सुंदरी सुन रही थी—अनमनी होकर। उसके सामने भी वे चिट्ठियाँ आने लगीं, जिन्हें चंद्रमाप्रसाद भेजा करते थे। उसने काँपकर कहा—"बड़ी अच्छी चिट्ठियाँ लिखते थे। हाँ, तो कल चलोगी गंगा नहाने?"

गौरी ने पूछा—"कल क्या है?"

सुंदरी—"कल माघी है। यह भी नहीं मालूम।"

गौरी—"हाँ, भूल गई थी। हाँ, चलूँगी, लेकिन मैं बग़ैर पूछे कैसे कह सकती हूँ। अच्छा, पूछ लूँ। मैं पूछकर नौकर से कहलवा दूँगी। हाँ, तो सुनो!"

सुंदरी—"आज अब रहने दो बहन! कल सुनूँगी। आज जाती हूँ। सासजी बैठी होंगी। अकेले तो उनका भी जी घबराता होगा। अच्छा, जाती हूँ।"

यह कहकर सुंदरी उठ खड़ी हुई। गौरी ने कहा—"अच्छा, तो जाओगी?"

सुंदरी—"हाँ, फिर आऊँगी।"

सुंदरी गौरी के भाग्य को सोचती हुई चली गई।

(४)

विधवा के हृदय में जब एक बार भी किसी दूसरे का सुख चुभ जाता है, यानी वह किसी के सुख-सौभाग्य की बातें सोचने लगती है, यही उसका पाप-मार्ग की ओर पहलेपहल पैर बढ़ाना होता है। वह सोचती है कि मैं किस अपराध से इस सुख से वंचित हो गई। अगर कुछ अपराध किया था, तो उसका दंड तो मिल गया। इतने दिन उसका प्रायश्चित्त किया, अब मुझे फिर इस सुख के अनुभव करने का क्यों अवसर नहीं मिल सकता?

सुंदरी एक पढ़ी-लिखी शिक्षिता नारी थी। चंद्रमाप्रसाद स्त्री-शिक्षा के बड़े प्रेमी थे, उन्होंने स्वयं बड़ी मेहनत से सुंदरी

को शिक्षित किया था। सुंदरी के सामने इँगलैंड, अमेरिका आदि देशों की रीति-रिवाज याद आने लगे। वह सोचने लगी कि वहाँ की स्त्रियाँ तो विधवा होने पर भी विवाह कर सकती हैं। क्योंकि उनके लिये कोई ऐसी बाधा नहीं है। उन्होंने भी वही पाप किया होगा, जो यहाँ की विधवा स्त्रियों ने किया होगा। तभी तो दंड दोनो को एक ही मिला, यानी दोनो विधवा हो गईं। फिर क्या बात है कि उनको विवाह का अधिकार प्राप्त है, और यहाँ नहीं। उत्तर होगा कि इनका समाज दूसरा है, और हमारा समाज दूसरा। उन लोगों का समाज विधवा-विवाह उचित समझता है और यहाँ का समाज अनुचित। तो फिर यह व्यवस्था समाज ने बनाई है, ईश्वर ने नहीं। समाज को बनानेवाले थे, और हैं कुछ ख़ुदग़रज़ पुरुष। उन्होंने जितने नियम अपने लिये बनाए, वे सब तो सहल हैं, और जो चाहे वे कर सकते हैं। लेकिन अगर बाधा है, तो अभागिनी स्त्रियों को। पुरुष वंश चलाने की आड़ में एक नहीं, दो नहीं, चार-पाँच विवाह कर सकते हैं, वंश रहते भी पुनः ब्याह कर सकते हैं, समाज उन्हें आज्ञा देती है, लेकिन अभागिनी नारियों को ही अपनी इच्छा, अपनी कामना का दमन करना पड़ता है। वे स्त्रियाँ जो अपने को नहीं रोक सकतीं, अपनी वासना को नहीं दबा सकतीं, यह आवश्यक है कि वे दूसरा विवाह करके सुख-शांति के साथ जीवन व्यतीत करें, न कि वे छिपकर पाप-मार्ग में प्रवेश करें। भ्रूण-हत्या, चरित्र-

हीनता का पाप क्यों व्यर्थ में लगे ? संसार उन्हें घृणा से देखे, और वे संसार को ख़ुदग़रज़ और घृणित समझें।

सुंदरी के मन में हमेशा यही ख़याल उठा करते। जब वह अकेली बैठती, तब ऐसी ही बातें सोचती। संसार के प्रलोभन उसे अपनी ओर घसीटते, और वह भी उनकी ओर धीरे-धीरे अनजान अवस्था में खिची चली जा रही थी।

रामशंकर ने घर आना न छोड़ा था। वह रोज़ आते और घंटों बातें किया करते। सुख-दुख की, देश की, तमाम तरह की बातें शाम को हुआ करतीं, कभी सुंदरी की सास बैठती और कभी न बैठती। उसे रामशंकर के ऊपर पूर्ण विश्वास था। रामशंकर का चरित्र भी बड़ा निर्मल और उच्च था।

उसी दिन शाम को सुंदरी ने रामशंकर से कहा—"भैया, ईश्वर और भाग्य क्या चीज़ है ?"

सुंदरी रामशंकर को भैया कहकर पुकारती थी।

रामशंकर—"ईश्वर क्या है, इसका उत्तर बहुत कठिन है। और यहाँ पर मतभेद भी है। अतीत काल से और इस समय तक दो मत रहे हैं। एक मत तो यह कहता है कि जो कुछ होता है, स्वयं होता है, और ईश्वर कुछ नहीं है, अगर कहीं है, तो जड़ पदार्थ है। उसका असर (प्रभाव) हम पर कुछ नहीं हो सकता। दूसरा मत यह कहता है कि संसार का छोटे-से-छोटा काम ईश्वर की इच्छा से होता है। बग़ैर उसकी मरज़ी के एक पत्ता नहीं हिल सकता। लेकिन मेरा तो विश्वास है कि ईश्वर

एक वह अदृश्य शक्ति है, जिसका अस्तित्व सबमें है, और संसार को सुचारु रूप से परिचालित करता है। भाग्य, पूर्व जन्म के किए हुए कर्मों का फल है।"

सुंदरी—"ईश्वर का भाग्य पर अधिकार है ?"

रामशंकर—"भाग्य पर अधिकार है, और नहीं भी। कर्म-फल तो अवश्य ही भोगना होगा, लेकिन अगर उसका प्रायश्चित्त पूरे रूप से किया जाय, तो वह कर्म-दंड को सहज बना देता है, यानी Rigorous imprisonment (सख्त क़ैद) के बदले Simple imprisonment (सादी क़ैद) कर देता है। लेकिन कर्म-फल अवश्य भोगना पड़ता है।"

सुंदरी—"तो फिर एक तरह से ईश्वर की शक्ति कर्म के ऊपर नहीं है। कर्म भी ईश्वर की तरह बलवान् है।"

रामशंकर—"हाँ, कर्म एक अवश्य ही बड़ी शक्ति है। जैसा तुम करोगी, वैसा ही फल पाओगी।"

सुंदरी—"एक किसान एक खेत में अगर चना बोवेगा, तो चना ही काटेगा। चना बोकर गेहूँ नहीं काट सकता। चाहे जो करे, लेकिन चना गेहूँ में बदल नहीं सकता, यहाँ पर किसान खेतों का विधाता है। क्यों ?"

रामशंकर—"हाँ।"

सुंदरी—"तो फिर वह जो चीज़ खेत में डालेगा, वही चीज़ पैदा होगी। इसी तरह मनुष्य रूपी खेत में अगर किसान रूपी भगवान् सुबुद्धि डालता है, तो मनुष्य अच्छे काम करता है,

और अगर वह दुर्बुद्धि डालता है, तो उसके अनुसार वह ख़राब काम करता है, इस तरह से भाग्य का बनानेवाला है ईश्वर, क्योंकि जैसा वह काम करावेगा, वैसे ही करना पड़ेगा। हम तो काम करते हैं, जो भी वह हमसे करवाता है। फिर उसका फल क्यों भोगना पड़े। जैसे यह तो किसान की बेवक़ूफ़ी होगी, जो पहले तो चना बोवे, लेकिन उसे खाए नहीं, सड़ा डाले, यानी काम तो आप करे, और दंड दे चने को। यह कहाँ का न्याय है ?"

रामशंकर—"यहीं तो तुम भूल करती हो। ईश्वर काम नहीं करवाता, मनुष्य आप करता है। देखो, तुम अगर एक छोटे-से जानवर को मारने जाओ, तो तुम्हारे मन में कोई कहेगा, जीव-हत्या पाप है। तुम एक बार झिझकोगी, और अगर तुम्हारा Conscience एकदम मर नहीं गया है, तो न मारोगी, नहीं तो मार डालोगी।"

सुंदरी—"Conscience ईश्वर-दत्त है ?"

रामशंकर—"हाँ। Conscience भले और बुरे पहचानने की कसौटी है।"

सुंदरी—"लेकिन मेरी समझ में तो Conscience सिर्फ़ वह असर है, जो मनुष्य-हृदय पर उस समाज का पड़ता है, जिसमें वह पाला गया है। जैसे एक देहाती ब्राह्मण लीजिए और एक मुसलमान या अँगरेज़ लीजिए। मुसलमान या अँगरेज़ ख़ुशी के साथ अपनी मोछें बनवा डालेंगे, बल्कि उनका तो कर्ज़न-फ़ैशन है, लेकिन एक उस हिंदू-बालक से, जिसका

पिता जीवित है, मोछें बनवाने के लिये कहिए, वह नहीं बन-वाएगा। यह समाज का असर है या ईश्वर का? एक समाज बुरा समझता है, और एक अच्छा। लीजिए, एक मुसल-मान शौक़ से गौ को मार डालेगा, क्योंकि वह एक ऐसे समाज में पला है, जहाँ गौ मारना पाप नहीं है। एक हिंदू कभी नहीं मारेगा, क्योंकि वह एक ऐसे समाज में पला है, जहाँ गौ-हत्या से बढ़कर कोई पाप नहीं है। तो फिर यह संस्कार समाज का प्रभाव है या नहीं?"

रामशंकर—"Conscience इन बातों में नहीं देखा जाता। देखो, मनुष्य जब दूसरे मनुष्य को मारने जाता है, तब वह शक्ति, जो उसे मारने से रोकती है, Conscience है। जिसको तुम कहती हो, वह Conscience नहीं है, बल्कि वह कुसंस्कार है।"

सुंदरी—"हो सकता है, वह कुसंस्कार हो, लेकिन मैं यह नहीं मानने को तैयार हूँ कि Conscience God given (ईश्वर-दत्त) है। यह तो समाज का ही प्रभाव है। आप मनुष्य को मारने के बारे में कहते हैं। देखिए Cannibal * मनुष्यों को, मारने को कौन कहे, खा तक जाते हैं। क्या उनमें Conscience नहीं है। अगर है, तो क्यों ऐसा करते हैं? चोरी के बारे में देखिए। चोरी करना पाप है। श्याम-देश में

* Cannibal एक आफ्रिका में रहनेवाली जाति है, जो अभी तक मनुष्य का मांस खाती है, और जो अब धीरे-धीरे लोप हो रही है।

यह पाप नहीं गिना जाता, बल्कि एक चालाकी समझी जाती है। क्या वहाँ के आदमियों को Conscience देना ईश्वर भूल गया था?"

रामशंकर—"यहाँ पर तुम फिर ग़लती करती हो। Cannibal में Conscience ज़रूर है, लेकिन वे इतने अविद्या के अंधकार में पड़े हुए हैं कि जानवरों की अपेक्षा इसीलिये अच्छे हैं कि उनका आकार-प्रकार मनुष्यों-जैसा है, नहीं तो वे आदमी नहीं, पशु हैं। पशुओं में Conscience नहीं Instinct होता है। देखो, जैसे Instinct हरएक पशु में होता है, वैसे ही Conscience भी हरएक आदमी में होता है। बग़ैर Conscience के कोई आदमी नहीं है।"

सुंदरी—"यह मैं कब कहती हूँ कि बग़ैर Conscience के कोई आदमी है, लेकिन यह ईश्वर-दत्त नहीं है। आप यह कहिए कि श्याम के लोग भी क्या Cannibals की तरह हैं। वे तो शिक्षित हैं।"

रामशंकर—"यह प्रथा कभी थी, लेकिन अब नहीं है। ज्यों-ज्यों वे शिक्षित होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों उनमें से धीरे-धीरे यह कुप्रथा उठती जा रही है। अब उनका Conscience आगे यह करने के लिये आज्ञा नहीं देगा।"

सुंदरी—"तो यह प्रभाव किसका पड़ा। समाज का या ईश्वर का? अगर ईश्वर-दत्त होता, तो उसका प्रभाव भी शुरू से पड़ता, उसमें भी वही ताक़त होती, जो और सब

ईश्वर-दत्त इंद्रियों में। जैसे आँख का देखना। यह ईश्वर-दत्त है, और जब से मनुष्य पैदा होता है, तभी से देखने लगता है। वैसे ही Conscience प्राकृतिक मार्ग से जब अप्राकृतिक मार्ग की ओर आता, तो उसे वह मना करता, लेकिन ऐसा तो होता नहीं। आदमी का Conscience तभी रोकता है, जब वह कोई काम समाज के विरुद्ध करता है।"

रामशंकर—"अच्छा, बुद्धि को ईश्वर-दत्त मानती हो। जैसे बुद्धि को उच्च करने से वह विकसित होती है, वैसे ही Conscience भी उच्च करने से उच्च होता है।"

सुंदरी—"मैं तो बुद्धि को ईश्वर-दत्त पदार्थ नहीं मानती। वह आदमी में स्वयं पैदा होती है। उसे ईश्वर-दत्त तो मैं तब मानती, जब आदमी मा के पेट से ही विद्वान् पैदा होता।"

रामशंकर—"अच्छा, इसकी भी मिसालें मिलेंगी। मास्टर मोहन हारमोनियम बजाना ७ वर्ष की ही अवस्था में सीख गए थे। सीख क्या, पूरे मास्टर थे। अगर ईश्वर-दत्त विद्या नहीं थी, तो फिर कैसे सीख गए?"

सुंदरी—"यों तो आजकल कुत्ते भी हिसाब जानते हैं। एनी बेसेंट के अनुसार तो यह है कि आदमी में क्यों एक गुण जल्दी आ जाता है? चूँकि वह उसका जन्म-जन्मांतर अभ्यास करता है। इसीलिये किसी एक गुण का विकास थोड़ी ही उम्र में हो जाता है। यह भी मनुष्य के परिश्रम का फल है, ईश्वर ने क्या किया? मेरी समझ में ईश्वर

कुछ नहीं है, न उसकी कोई शक्ति है। हमीं सब कुछ हैं, हमीं ईश्वर हैं और हमीं देवता हैं। हमीं काम करते और हमीं उसका फल पाते हैं। एक हिंदी-कवि ने कहा है—"आपने करम करि उतरेंगे पार जो पै, हम करतार, करतार तुम काहे के ?' सो बहुत ठीक कहा है। हमीं करतार हैं, और दूसरा करतार महज़ काल्पनिक है, और कुछ नहीं।"

रामशंकर—"यह तुम्हारा ख़याल ग़लत है। अगर ईश्वर न होता, तो आज के दिन दुनिया विशृंखल हो जाती।"

सुंदरी (हँसती हुई)—"विशृंखल कब नहीं है। उसका काम कहाँ ठीक रूप से चलता है। सभी जगह तो हाहाकार, अत्याचार-अनाचार देख पड़ता है। हम ईश्वर को कहाँ मानें ?"

रामशंकर—"तुम्हारी आँखों के सामने माया का एक विराट् पर्दा पड़ा हुआ है, अभी तुम नहीं देखतीं। जब तुम्हारे मन से यह द्वेष दूर हो जायगा, तब तुम देखोगी ईश्वर को, और कहोगी, हाँ, ईश्वर है। मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं उसको प्रत्यक्ष दिखा दूँ। यह परमहंस स्वामी रामकृष्ण ही में था, जिन्होंने विवेकानंद-जैसे कट्टर नास्तिक को भी ईश्वर दिखाकर अपना चेला कर लिया था। यह विषय बड़ा गहन है। अच्छा, तुम अब गीता पढ़ो। तुम्हारी शंकाएँ वहीं पर समाधान हो जायँगी, और तभी से तुम ईश्वर पर विश्वास भी करने लगोगी।"

सुंदरी—"अच्छा, यह कहिए कि विधवा के लिये नियम किसने बनाए ?"

रामशंकर—"समाज ने।"

सुंदरी—"समाज किसने बनाया ?"

रामशंकर—"मनुष्यों ने।"

सुंदरी—"पुरुषों ने कि स्त्रियों ने ?"

रामशंकर—"पुरुषों ने।"

सुंदरी—"तो फिर क्या ज़रूरी है कि हम स्त्री लोग ख़ुदग़रज़ पुरुष-जाति के बनाए हुए नियमों का पालन करें, और पालन करने के लिये बाध्य की जायँ ?"

रामशंकर—"ख़ुदग़रज़ पुरुष कैसे ?"

सुंदरी—"यह ख़ुदग़रज़ी नहीं है तो क्या है ? पुरुष चाहे हज़ार विवाह कर ले, एक स्त्री रहते भी जो चाहे, सो करे। वह तो ठीक है, लेकिन अगर बेचारी स्त्री एक स्वामी के मरने पर दूसरा विवाह करने के लिये तैयार हो, तो वह पाप है !"

रामशंकर—"बात यह है कि हिंदू-समाज ने स्त्रियों को बहुत बड़ा आसन दिया है। वे पवित्रता की मूर्ति मानी गई हैं। अगर वे पाप करेंगी, तो उनकी संतान पुरुष-जाति तो बिल्कुल तहस-नहस हो जायगी। इसीलिये विधवाओं के लिये यह नियम किया गया है कि वह सदा पवित्रता की मूर्ति बनी रहें। हिंदू-धर्म गर्व से अपना सिर उठाकर और धर्मों से कहे कि

देखो, मेरे यहाँ ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो एक ही स्वामी की चिंता में अपना जीवन व्यतीत कर देती हैं, और तुम्हारे यहाँ नहीं हैं।"

सुंदरी—"तो यह उच्च आदर्श हज़ारों विधवाओं का बलिदान करने के बाद रक्खा जाता है।"

रामशंकर—"इसमें त्याग है। त्याग से बढ़कर तपस्या और कोई नहीं है। त्याग करो, तो ईश्वर भी तुमसे प्रसन्न होगा।"

सुंदरी—"लेकिन जो स्त्रियाँ त्याग नहीं कर सकतीं, वे क्या करें?"

रामशंकर—"इसीलिये तो यह व्यवस्था की गई है, जिसमें वे त्याग करना सीखें। तपस्या कोई हलुवा-पूरी नहीं है, लोहे के चने हैं।"

सुंदरी—"किंतु यह त्याग का पाठ स्त्रियों के लिये ही क्यों, पुरुष क्यों न इसे......।" इसी समय सुंदरी की सास ने आकर कहा—"अरे, बहुत रात बीत गई रामा! तुम्हारी बातें ही ख़तम होने नहीं आईं। आज यहीं खाकर जाना, अच्छा। बहू, ले चलो, परसो, रामा यहीं खायगा।"

रामशंकर—"मुझे खाने में कुछ इनकार नहीं है, लेकिन घर का खाना ख़राब होगा।"

सुंदरी ने हँसते हुए धीरे से कहा—"हाँ, और घर में माल-किन ख़फ़ा होंगी।" यह कहकर उसने एक वंकिम कटाक्ष किया, और मुस्किरा दी।"

रामशंकर ने आज सुंदरी में यह एक नया भाव देखा।

वह काँप उठे। वह किसी भावी भयंकर आशंका से सिहर गए। उन्होंने भय-विह्वल दृष्टि से देखा, सुंदरी अब भी धीरे-धीरे उन्हीं की ओर देखकर मुस्किरा रही थी। उन्होंने अपनी आँखें नीची कर लीं। सुंदरी भी धीरे-धीरे चली गई।

सुंदरी की सास ने कहा—"रामा, चल, तू खड़ा क्यों है ? ग्यारह बज गए! क्या तुझे अभी तक भूख भी नहीं लगी?"

रामशंकर ने अनमने तौर पर कहा—"भूख तो लगी है मा! अच्छा, चलो, खा ही आवें।"

रामशंकर सुंदरी की सास के पीछे-पीछे चले गए।

(५)

अधःपतन एक सीढ़ी है। चरित्र के बाद ही चरित्र-हीनता अधःपतन की सीढ़ी शुरू होती है। एक पैर जहाँ नीचे की ओर बढ़ा दिया, फिर दूसरा पैर भी जरूर उसी सीढ़ी पर आ जायगा, और उसके बाद वह जल्दी-जल्दी नीचे की ओर बढ़ता ही जायगा, रुकेगा नहीं।

सुंदरी उस सीमा में आ गई थी। वह पहली सीढ़ी उसी दिन उतर चुकी, जिस दिन उसने गौरी के भाग्य की बात सोची थी। फिर अधःपतन का मार्ग उसके लिये खुल गया। उसने तर्क-वितर्क करके रामशंकर के मन की थाह ली। उसे विदित हुआ कि इस मनुष्य को जीतना एकदम असंभव तो नहीं, लेकिन मुश्किल जरूर है। उसने मन-ही-मन व्यंग्य से काम लेना सोचा। इसीलिये उस दिन उसने हँसते हुए वह व्यंग्य

प्रहार किया था, और फिर उसने उस दिन से व्यंग्य की मात्रा और बढ़ा दी। रामशंकर भी सब जानते हुए अनजान का ढोंग रचने लगे। क्योंकि मनुष्य प्रेमी की दृष्टि से ही जान जाता है कि वह उससे प्रेम करता है।

रामशंकर दो-तीन दिन नहीं आए। चौथे दिन आए। उनको देखकर सुंदरी ने हँसते हुए कहा—"अहा हा ! आज न-मालूम कहाँ भूल पड़े ! तीन-तीन दिन नहीं आए ! हम पर नाराज़ हुए थे, या श्रीमतीजी ने आने की आज्ञा नहीं दी थी ?"

रामशंकर ने हँसते हुए कहा—"ज़रा काम था। जानती हो, संसार में झंझट लगे ही रहा करते हैं। कई एक झंझटों में फँसा था।"

सुंदरी—"वाह, पहले क्या झंझट नहीं लगे रहा करते थे ?"

रामशंकर—"क्यों नहीं लगे रहा करते थे, लेकिन अब की के झंझट पहले-से नहीं थे, बल्कि उनसे कुछ बेढब थे।"

सुंदरी ने घबराए हुए स्वर से कहा—"ख़ैरियत तो है ?"

रामशंकर ने हँसते हुए कहा—"घबराओ नहीं। ऐसी कोई बात नहीं है। एक तो मेरे यहाँ साले साहब बिदा कराने आए थे···।"

सुंदरी—"ओहो, समझ गई। श्रीमतीजी जानेवाली थीं, इसीलिये नहीं आ सके। हाँ, मैं कौन हूँ, जो यहाँ आओगे।"

रामशंकर ने कहा—"माजी कहाँ हैं ?"

सुंदरी—"ऊपर हैं। आओ, या खड़े-ही-खड़े बातें करके जाना चाहते हो? अभी तक गईं नहीं क्या?"

रामशंकर—"नहीं, वह तो कल ही चली गई थी।"

सुंदरी ने फिर हँसते हुए कहा—"अच्छा, तभी ज़रा ग़रीबों की सुधि हो गई है।"

सुंदरी की सास ने ऊपर से पूछा—"कौन है बहू! क्या रामा आया है?"

सुंदरी ने कहा—"हाँ अम्मा! न-मालूम कहाँ आज भूल पड़े!"

सुंदरी की सास छज्जे पर आ गईं। "आओ बेटा, इतने दिनों कहाँ थे? आए क्यों नहीं?"

रामशंकर ने कहा—"बात यह थी कि साले साहब आए थे, इसीलिये नहीं आ सका।"

सुंदरी की सास—"तो क्या बहू गई?"

रामशंकर—"हाँ, कल गई।

सुंदरी की सास—"अब कब तक आएगी?"

रामशंकर—"फागुन में हमारी साली की शादी है। इसीलिये गई है, शायद वैशाख तक आना हो।"

सुंदरी की सास—"ऊपर आओ न, नीचे क्यों खड़े हो।"

सुंदरी ने रामशंकर की ओर हँसते हुए कहा—"बात यह है कि वह खड़े-ही-खड़े बातें करके जाना चाहते हैं।"

फिर बहुत धीरे से कहा, जिसमें ऊपर सासजी न सुन सकें—"बहू को चिट्ठी लिखना बाक़ी है।"

सुंदरी की सास—"यह भी कोई बात है ? आज इतने दिन बाद आए, बैठोगे भी नहीं !"

रामशंकर—"अरे, बैठने के लिये तो आया ही हूँ ।"

यह कहकर रामशंकर ऊपर चले गए । सुंदरी भी उनके पीछे-पीछे चली । ज़ीने में चढ़ते-चढ़ते वह गिर पड़ी । दोनो हाथों से रामशंकर के पैर पकड़ लिए । रामशंकर ने पीछे फिरकर देखा, और जल्दी से उठाने के लिये नीचे उतरे, सुंदरी अभी तक उठी न थी ! उसके हाथ को पकड़कर उठाते हुए कहा—"क्या चोट लगी !"

सुंदरी फिर भी न उठी । रामशंकर ने उसे ज़ोर से उठाया, वह तब भी न उठी ।

इसी समय सासजी ने पूछा—"क्या हुआ रामा ! क्या गिर पड़े ? चोट लगी ?"

रामशंकर—"नहीं, मैं तो नहीं गिरा, भाभी गिर पड़ी हैं ।"

सुंदरी की सास ज़ीने पर आई । उनको आया देखकर सुंदरी धीरे-धीरे उठी । उठकर कहा—"चढ़ते वक़्त धोती पैर से फँस गई, इसीलिये गिर पड़ी ।"

सास ने पूछा—"चोट कहाँ लगी ?"

सुंदरी ने कहा—"घुटनों में चोट आई है ।"

रामशंकर ने उसका हाथ पकड़कर चढ़ाते हुए कहा—"ज़रा सँभलकर चढ़ा करो । अच्छा, चढ़ो ।"

सुंदरी रामशंकर का हाथ पकड़े हुए धीरे-धीरे ऊपर चढ़ी ।

सुंदरी रामशंकर का हाथ पकड़े हुए थी। वह उसे दबा रही थी। रामशंकर ने देखते हुए भी, स्पर्श होते हुए भी, न अनुभव किया। वह उसे उसकी कमज़ोरी का कारण समझे।

ऊपर पहुँचते ही सासजी ने कहा—"क्यों, क्या बहुत चोट लगी है? हल्दी प्याज़ पीस ले आने को कहूँ?"

सुंदरी—"नहीं-नहीं, कुछ ज़रूरत नहीं है। ज़रा-सी चोट पहुँची है, और कुछ नहीं। यों ही ठीक हो जायगी।"

सुंदरी की सास ने रामशंकर से पूछा—"भेजने के पहले बहू को यहाँ नहीं ले आए?"

रामशंकर—"पहले से तो कोई जाने की बात तय न थी। एकाएक परसों मनोहर आ गए। ले जाने की ज़िद करने लगे, तब आख़िर मजबूरन् कल भेज देना पड़ा। जल्दी के मारे यहाँ आने का मौक़ा ही न मिला।"

सुंदरी की सास—"बहू, रामा के लिये दो पान लगा लाओ।" सुंदरी पान लगाने चली गई।

सुंदरी की सास—"बेटा रामा, मैं तो अब काशीजी जाने के लिये तैयार हूँ।"

रामशंकर—"और भाभी कहाँ रहेगी?"

सुंदरी की सास—"क्यों, मेरे साथ।"

रामशंकर—"मा, युवती स्त्रियों के लिये कहीं की भी यात्रा हो, दुर्गम है। जितना पाप तीर्थ-स्थानों में होता है, शायद ही कहीं होता हो। फिर पाप के बीच में रहकर भले आदमी भी

ख़राब हो जाते हैं। मेरी राय में तो काशी जाना आप मुल्तवी कर दें।"

सुंदरी की सास—"यही सब सोचकर तो मैं बड़ी चिंता में पड़ गई हूँ कि क्या करूँ। सुंदर, जवान बहू को लेकर मैं बड़ी आफ़त में पड़ी हूँ। न यही मरती है, और न मुझे ही काल पूछता है।"

रामशंकर—"इसमें अपना क्या चारा है। यह तो ईश्वर की इच्छा है, और क्या कहा जाय।"

सुंदरी ने पान लाकर दो बीड़े रामशंकर को दिए। रामशंकर ने देखा, आज पान ख़ुशबूदार चीज़ों से महक रहा था। आज रामशंकर ने बहुत दिनों के बाद ऐसा ख़ुशबूदार पान खाने को पाया था। बाबू चंद्रमाप्रसाद के सामने ही ऐसे सुगंधित बीड़े खाने को मिला करते थे। उनके बाद से वह सब बंद हो गए थे। अपने ऊपर आज इतनी कृपा होते देखकर वह हँसकर बोले—"आज यह कृपा कैसी ?"

सुंदरी ने हँसकर पूछा—"कैसी कृपा ?"

रामशंकर—"यही कि आज पान मारे ख़ुशबू के महके जा रहे हैं। बहुत दिनों बाद ऐसे पान खाने को मिले हैं।"

सुंदरी—"क्या करूँ, रक्खे-रक्खे मसाला ख़राब हुआ जा रहा था। कोई खाता तो है नहीं। आज इत्तिफ़ाक़ से याद आ गई। कहा, लाओ तुम्हीं को खिला दूँ।"

रामशंकर—"ओहो, धन्यवाद !"

सुंदरी की सास—"रामा, आज भी यहीं खाकर जाना। मैं खाना बनाने को महराजिन से कहे आती हूँ।"

रामशंकर—"नहीं मा, आज नहीं, रहने दो।"

सुंदरी की सास—"क्यों, क्या हुआ ?"

सुंदरी—"ज्ञात चली जायगी।"

सुंदरी की सास—"चुप रह, ज्ञात चली जायगी।"

रामशंकर के उत्तर की प्रतीक्षा बिना किए ही सासजी चली गईं।

सुंदरी ने बैठते हुए कहा—"अच्छा, यह बताइए कि विधवा का क्या कर्तव्य है ?"

रामशंकर—"विधवा का कर्तव्य है ब्रह्मचर्य-पालन करना। मृत स्वामी की चिंतना ही में जीवन उत्सर्ग कर देना।"

सुंदरी—"अगर विधवा यह कठिन कर्तव्य न कर सके ?"

रामशंकर—"न कर सकने के क्या माने ? उसको यह करना ही पड़ेगा, इसीलिये हमारे यहाँ विधवा को ऐश्वर्य से, सुख से दूर रहने को कहा है। उसके लिये इतने कठोर व्रतों की व्यवस्था की गई है, जिससे वह अपने मन को जीत सके। इंद्रियों का दासत्व न करे, बल्कि उन पर शासन कर सके।"

सुंदरी—"पुरुषों के लिये क्यों नहीं यह व्यवस्था है। वे एक स्त्री के मर जाने पर क्यों दूसरा विवाह करते हैं ?"

रामशंकर—"उनके लिये इसलिये यह व्यवस्था की गई है

कि पुरुष-जाति बड़ी उच्छृंखल होती है। अगर उनके लिये दूसरे विवाह की व्यवस्था न हो, तो वे समाज के नियमों को तोड़-फोड़कर नष्ट-भ्रष्ट कर डालें। जब वे कामासक्त होते, तो नवाबी फैला देते। इसीलिये उनके लिये यह दूसरा विवाह है, और स्त्रियाँ सकुचीली, लज्जावती और शांत होती हैं। वे अपनी वासनाओं को दमन कर सकती हैं। इसीलिये इनके लिये यह व्यवस्था है।"

सुंदरी—"तो पुरुषों ने स्त्रियों की इस साधुता से अनुचित लाभ उठाया है। अगर वे भी पुरुषों की तरह उद्दंड होतीं, तो शायद समाज को विधवा-विवाह करने की व्यवस्था करनी ही पड़ती, क्योंकि बेढब से सभी डरते हैं। 'टेढ़ जान शंका सब काहू।'"

रामशंकर—"हाँ, तब शायद करना पड़ता।"

सुंदरी—"इँगलैंड आदि देशों की स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अपने को हीन नहीं समझतीं, वे अपने अधिकार लेना जानती हैं, इसीलिये उनकी समाज में विधवा-विवाह रक्खा है।"

रामशंकर—"हो सकता है। आजकल की हमारी हिंदू-स्त्रियाँ भी ऐसी हो रही हैं, इसीलिये विधवा-विवाह का प्रश्न समाज के सम्मुख है। मेरी समझ में शीघ्र ही विधवा-विवाह होने की प्रथा प्रचलित हो जायगी।"

सुंदरी—"विधवा-विवाह के बारे में आपकी क्या राय है?"

रामशंकर—"मेरी राय में तो उन विधवाओं का विवाह

हो जाना ठीक ही है, जो अपनी वासना को दमन नहीं कर सकतीं, और जो कर सकती हैं, वे कभी विवाह करके दुराचारिणी न हों। उनको उचित है कि एक स्वामी की, जिसके चरणों में कभी उन्होंने अपना सर्वस्व भेंट कर दिया था, जिसको ईश्वर के तुल्य माना था, उसी की चिंता में, आराधना में, अपना जीवन उत्सर्ग कर दें। यह तपस्या तो पहले कठिन है, लेकिन बाद में बड़ी सुखप्रद है। विधवा दंपति कभी सुखी नहीं हो सकते। दोनो के मन में कुछ-न-कुछ मैल रहता है। दोनो अपनी काम-वासना तृप्त करने के लिये ही विधवा-विवाह करते हैं। जहाँ स्वार्थ है, वहाँ प्रेम नहीं। देख लो, जो आदमी दूसरा विवाह करते हैं, वे कभी सुखी नहीं रहते। उनके यहाँ रोज़ झगड़ा-बखेड़ा लगा रहता है। दो नए हृदयों में प्रेम होना स्वाभाविक है, लेकिन दो पुराने में मुश्किल है।"

सुंदरी—"तो योरपीय देशों में जो विधवाएँ विवाह करती हैं, वे सुखी नहीं रहतीं ?"

रामशंकर—"उनसे मिलान क्यों करती हो। वहाँ तो एक स्वामी जीवित रहते तलाक़ लेकर विवाह करती हैं। वहाँ तो विवाह ही काम-वासना है, प्रेम है, लेकिन कम। वहाँ पर भी विधवाओं की संख्या उन पुरुषों से अधिक है, जिनकी स्त्री मर चुकी है, और विवाह नहीं किया है। १९११ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट के अनुसार इँगलैंड और वेल्स

के १००० आदमियों में ३८ विपत्नीक और ७१ विधवा थीं। लगभग दूने का फ़र्क़ था। स्त्रियाँ स्वयं ही दूसरा विवाह करना पसंद नहीं करतीं। ख़ैर, मैं अब जा रहा हूँ नीचे मा के पास। फिर कभी देखा जायगा।"

रामशंकर उठकर चले गए। सुंदरी देखती रही। उनके चले जाने के बाद एक ठंडी साँस लेकर बोली—"हाय, मैं क्या करूँ, अब मैं अपनी इच्छा को रोक नहीं सकती। लेकिन तुमको जीतना भी बड़ा मुश्किल जान पड़ता है। मैं जानती हूँ कि यह पाप है, लेकिन क्या करूँ। मैं अपने को नहीं रोक सकती, नहीं रोक सकती। मेरा पतन निश्चय है। अब तो हो ही रहा है, होने दो।"

(६)

सुंदरी ने ठंडी साँस लेकर कहा—"क्या तुम मुझे प्यार नहीं करते ?"

रामशंकर ने अपनी हँसी छिपाते हुए कहा—"क्या ?"

सुंदरी ने फिर कहा—"क्या तुम मुझे प्यार नहीं करते ?"

रामशंकर ने कहा—"मैं तुम्हें अपनी सहोदरा की भाँति प्यार करता हूँ। बहन, तुम मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारी हो। जिस दिन से भाई साहब ने तुम्हारा भार मेरे सिर सौंपा है, उस दिन से मैं तुम्हें अपनी 'कला' के समान प्यार करता हूँ।"

कला रामशंकर की बहन थी।

सुंदरी ने पुनः एक ठंडी साँस लेकर कहा—"तुम मुझे बहन

कहकर न पुकारो, मुझे यह नाम अच्छा नहीं लगता। तुम पागल हो, समझते नहीं।"

रामशंकर ने मृदु-कोमल स्वर में कहा—"क्यों, तुम्हें बहन न कहूँ? तुम मेरी बहन के समान ही हो। तुम मेरे परम मित्र की पत्नी हो, जिनको मैं सहोदर-तुल्य मानता था। फिर तुम्हें बहन क्यों न कहूँ?"

सुंदरी ने किंचित् क्रोध-सहित कहा—"बहन कितना रूक्ष संबोधन है। कुछ और कहकर पुकारो, जिससे यह हृदय शीतल हो, इसकी ज्वाला शांत हो। इस पागल मन की उन्मत्तता दूर हो। मन की साध पूरी हो!"

रामशंकर ने मृदु हास्य-सहित कहा—"अच्छा, बहन न कहूँगा, आज से मैं तुम्हें मा कहूँगा। मा कहने ही से हृदय भक्ति से, स्नेह से, कृतज्ञता से उत्फुल्ल हो जाता है। मा में जो मिठास है, वह और किसी में नहीं है। अब तुम्हें आज से मा कहकर ही पुकारूँगा मा।"

सुंदरी ने घृणा से मुँह फेरकर कहा—"उहँ, मा में वह मिठास कहाँ? मैं रोज़ सासजी को मा कहकर पुकारती हूँ, लेकिन कहाँ है वह माधुर्य, जिसकी व्याख्या तुम करते हो। कम-से-कम मैं तो उसका अनुभव नहीं करती, कुछ और कहो।"

रामशंकर ने गंभीर होकर कहा—"मा भी न कहूँ, बहन भी न कहूँ। फिर मैं क्या कहूँ? जिस 'मा'-शब्द के सुनने-मात्र से

हो गाँव-घाट की स्त्रियाँ स्नेह से आर्द्र-चित्त हो जाती हैं, और बड़े प्रेम से कहती हैं, 'क्या है बेटा !' जिस 'मा'-शब्द को सुनने के लिये ही तमाम बहुएँ मन्नतें मानती हैं कि कोई उनके पुत्र हो, और वह उनको मा कहकर पुकारे। जिस 'मा'-शब्द के सुनने को ही संसार की स्त्रियाँ लालायित रहा करती हैं, वही 'मा' कहना तुम्हें बुरा लगता है ? तुम शिक्षिता हो, और तब भी तुम 'मा' सुनना पसंद नहीं करतीं। धन्य हो !"

सुंदरी ने इतस्ततः करते हुए कहा—"क्या मुझे कहना ही पड़ेगा। हाय ! अब भी नहीं समझे। तुम शायद मनुष्य नहीं हो ! अच्छा, जो मैं पूछूँ, क्या उसका ठीक-ठीक उत्तर दोगे ?"

रामशंकर—"पूछो, मैं जहाँ तक होगा, ठीक ही उत्तर दूँगा।"

सुंदरी ने एक वंकिम कटाक्ष-सहित कहा—"कहो, मैं आज कैसी देख पड़ती हूँ ? ठीक कहना।"

रामशंकर ने हँसते हुए कहा—"बड़ी सुंदर देख पड़ती हो। मुझे ऐसा जान पड़ता है, मानो स्वयं जगज्जननी मेरे सामने खड़ी हुई हैं, मानो अन्नपूर्णा भवानी प्रसन्न होकर दर्शन देने के लिये स्वर्ग से अवतीर्ण होकर आई हैं।"

सुंदरी ने घृणा से मुँह बिचकाकर कहा—"बस, तुम्हारे मा के सिवा और कुछ है ही नहीं। क्या ये सब तुम्हारे हृदय में गुद-गुदी पैदा नहीं करते ?"

रामशंकर ने गंभीरता-सहित कहा—"आज तो तुम मुझे ठीक

देश की देवी 'वीनस' की भाँति देख पड़ती हो। इच्छा होती है कि घुटनों के बल बैठकर तुम्हें प्रणाम करूँ, और तुमसे वर माँगूँ।"

सुंदरी ने क्रोध-कंपित स्वर में कहा—"कहाँ की 'वीनस' और कहाँ की अन्नपूर्णा। तुम्हें क्या कुछ नहीं सूझता, तुम्हारे मन में क्या कोई भाव नहीं जगता ?"

सुंदरी लोलुप दृष्टि से रामशंकर की ओर देखने लगी।

रामशंकर ने धीर-शांत कंठ-स्वर में उत्तर दिया—"इच्छा होती है कि तुम्हें प्रणाम करूँ। एक बार मा कहकर पुकारूँ। मेरी निज की मा तुम्हारी-जैसी सुंदरी न थी। कभी-कभी मन में यह उठता है कि मेरी मा सुंदरी क्यों न थी। लाओ, आज वह साध पूरी कर लूँ। तुम्हें ही मा कहकर अपनी चिरपोषित अभिलाषा को पूर्ण कर लूँ।"

सुंदरी ने अधीर होकर कहा—"उहँ ! तुम्हें तो एक ही धुन सवार है। मेरे सुंदर रूप को देखकर क्या और किसी प्रकार का भाव हृदय में नहीं आता।"

रामशंकर ने शांत भाव से कहा—"आता है भक्ति का। जी चाहता है, तुम्हें भक्ति-पूर्वक प्रणाम करूँ। तुम्हारा यह वेष देखकर भक्ति से शरीर रोमांचित हुआ जा रहा है।"

सुंदरी की अधीरता चरम सीमा को पहुँच गई। उसने रुँधे कंठ से कहा—"भक्ति का संचार होता है, प्रेम का नहीं। क्या तुम्हारे जी में यह नहीं आता कि मुझे प्यार करो ?"

रामशंकर ने चकित होकर कहा—"किसको ?"

सुंदरी के कपोल लज्जा से, अभिमान से, क्रोध से लाल हो गए थे। उसने उत्तर दिया—"मुझको।"

रामशंकर ने साश्चर्य कहा—"तुमको। तुमको तो मैं अपनी बहन और मा से अधिक प्यार करता हूँ।"

सुंदरी—"नहीं, इस रूप से नहीं, और किसी रूप से।"

रामशंकर ने पूछा—"वह किस रूप से ?"

सुंदरी ने कहा—"क्या मुझे कहना ही पड़ेगा। क्या मेरे मुँह से कहलवाकर ही मानोगे ? क्या तुम्हें इतना भय है ? इतनी लज्जा है ? प्रियतम, प्राणनाथ, बोलो, क्या प्यार करोगे ? हैं-हैं, चौंकते क्यों हो ? चौंको नहीं, मैं तुम्हें प्यार करती हूँ। जीवन से भी अधिक प्यार करती हूँ। मेरा प्यार समुद्र से भी अधिक गंभीर, दामिनी से भी उद्दाम, तूफ़ान से भी उन्मत्त है। मैं तुमको अपना आराध्य देव मानती हूँ। तुम मेरे प्राणनाथ हो, सबसे अधिक प्यारे हो। मैं तुम्हारे लिये पागल हुई जा रही हूँ। तुम मुझे प्यार करो। सब कुछ तुम्हारे चरणों पर न्यौछावर है। मान-संभ्रम, ऐश्वर्य, स्वर्ग-नरक, भाई-बंधु, मा-बाप सभी तुम्हारे ऊपर न्यौछावर हैं। ख़ाली एक दफ़े तुम कहो—प्राणेश्वरी !"

यह कहकर सुंदरी ने उन्मादिनी की भाँति रामशंकर को अपने बाहु-पाश में बद्ध करके अपनी हृदय की ज्वाला को शांत कर लेना चाहा।

रामशंकर अपना धैर्य खो चुके थे। उन्होंने उसे जोर से दूर झिटकते हुए कहा—"भाभी, बस, तुम्हारा यहाँ तक अधः-पतन हो चुका। छिः! मेरी प्रतिज्ञा झूठी न करवाओ। ओह, देखो...आँखें खोलकर देखो, कौन है!"

सुंदरी ने फिरकर देखा। देखा कि खिड़की से चंद्रमाप्रसाद झाँक रहे हैं। उसने अपनी आँखों का भ्रम समझा। आँखें मलकर फिर देखा। वही मूर्ति अब भी वहाँ पर वर्तमान थी। उसकी दोनों आँखें अंगारों की तरह जल रही थीं। मुख पर पैशाचिक हँसी थी। सुंदरी उसे देखकर चिल्लाई, और वहीं पर बेहोश होकर गिर पड़ी।

रामशंकर ने फिर सिर उठाकर देखा। अब की वह संतोष की हँसी हँस रहे थे। उन्होंने फिर देखा। अब की दफ़े कुछ न था।

रामशंकर सुंदरी को होश में लाने का प्रयत्न करने लगे। थोड़ी देर बाद वह होश में आकर बोली—"भैया, आज तुमने एक बड़े भीषण पाप से बचा लिया। मुझ अभागिनी को क्षमा करो। मेरे ऊपर दया करो। मैं अभी तक अंधकार में थी। सच है, 'स्वामी की स्मृति' ही विधवा का 'शेष-संबल' है।"

रामशंकर मुस्किराने लगे।

लालसा

(१)

आशा की मधुर थपेड़ें जीवन को सुखमय कर देती हैं। निराशा शाप है, और आशा आशीर्वाद। जब तक आशा है, तब तक प्राण है, और जहाँ निराशा की भयंकर कालिमामयी छाया आकर पड़ी, वहीं नाश, मृत्यु और प्रलय है।

यही हाल हमारे महेश बाबू का था। महेश बाबू सुहासिनी से प्रेम करते थे। करते थे क्या माने, करते हैं, किंतु उन्हें कई बार निराश-सा होना पड़ा। वह कभी समझते कि सुहासिनी भी उन्हें चाहती है, कभी यह सोचते कि नहीं, उनकी यह धारणा भूल है। सुहासिनी उन्हें नहीं चाहती, सुहासिनी राजकुमार को चाहती है। कभी वह ठीक-से निश्चय न कर पाए कि कौन बात ठीक है। राजकुमार और महेशचंद्र दोनो प्रतिद्वंद्वी हैं।

सुहासिनी नवोढ़ा है। सुंदरी है। मतवाला यौवन उस पर अपना शासन कर रहा है। वह भी मदोन्मत्त है। वह नहीं जानती कि किससे प्रेम करे। जब वह हँसकर एक वंकिम कटाक्ष-सहित राजकुमार से बातें करती है, तो महेश बाबू की भृकुटियाँ चढ़ जाती हैं, और जब वह मधुर मुस्कान-सहित महेश बाबू से बातें करती है, तो राजकुमार का मुँह लटक

जाता है। बेचारी बड़ी विपद्-ग्रस्त है। नहीं जानती, वह किससे प्रेम करे। वह दोनो को प्रसन्न करना चाहती है, किंतु कर नहीं सकती। कहाँ से कर सकती है? और कैसे? समय पाकर कभी वह महेश को प्रसन्न कर देती है, और कभी राजकुमार को। दोनो भूले हुए हैं रमणी के प्रेम-जाल में। जब कभी महेश बाबू रूठ जाते हैं, तो सुहासिनी उनके पैर छूकर और आँसू गिराकर मना लेती है। बेचारे महेश बाबू भी बड़े भोले हैं। वह भी रमणी के माया-जाल में फँसकर उसका अपराध क्षमा कर देते हैं। जब कभी राजकुमार बाबू रूठते हैं, तब भी वही जाल फैलाया जाता है, और राजकुमार भी भूल जाते हैं। सुहासिनी दो प्रेमियों की मूर्खता पर खूब हँसती और दो भोले-भाले मृगों का शिकार करती है।

एक दिन की घटना का वर्णन करते हैं—

सुहासिनी के घर पर महेश बाबू बैठे हुए थे। सुहासिनी और महेश में प्रणय-वार्ता हो रही थी। दोनो सटे बैठे थे। राजकुमार के आने की आशा न थी। सुहासिनी भी निर्भय हो महेश बाबू से बातें कर रही थी।

महेश बाबू ने सुहासिनी का हाथ पकड़ते हुए कहा—"सुहास, देखो, तुम्हें एक बात माननी पड़ेगी। अगर न मानोगी, तो अच्छा न होगा।"

सुहासिनी ने धीरे-धीरे अपना हाथ खींचकर कहा—"तुम्हारी बात न मानूँगी, तो फिर किसकी मानूँगी? तुम तो मेरे आराध्य हो।"

महेश बाबू ने कहा—"देखो, आज से तुम कभी राजकुमार के पास न बैठो। राजकुमार से तुम्हारा क्या काम है? राजकुमार जो चीज़ माँगें, उन्हें दे दो, किंतु उनके पास बैठने को, हँसने को, बातें करने की कौन आवश्यकता है? उनसे मत बोलो। तुम मुझे स्वामी-रूप से मानती हो, तुम्हें मेरा कहना मानना पड़ेगा।"

महेश बाबू की बात सुनकर सुहासिनी मुस्किराती हुई बोली—"वाह, मैं कब उनके पास बैठती हूँ। वह हमारे कौन हैं। घर आकर यह चीज़ लाओ, वह लाओ, पान लाओ, पानी लाओ, लाओ-लाओ कर मेरे नाक में दम कर देते हैं। न-मालूम क्यों आते हैं। वह मुझे फूटी आँख नहीं सुहाते। क्या करूँ, घर में आते हैं, उनका कहना न करूँ, तो मा बुरा-भला कहती हैं, और वह भी रूठ जाते हैं। मुझे उनके रूठने की परवा नहीं है, किंतु मा का कहना करना ही पड़ता है।"

महेश बाबू ने उत्तर दिया—"मैं उनका काम करने के लिये नहीं मना करता, किंतु मुझे यह नहीं अच्छा लगता कि तुम अकेले में उनके पास बैठो, और उनसे बातें करो। तुम मेरी स्त्री हो। मेरी आज्ञा ही तुम्हारे लिये सब कुछ है।"

वाह! महेश बाबू, बग़ैर गठबंधन हुए ही सुहासिनी तुम्हारी पत्नी हो गई। बीसवीं शताब्दी का शायद यह नवाँ विवाह है। अब तक शास्त्र-मत से आठ ही प्रकार के विवाह थे, किंतु आपने

यह नए विवाह की सृष्टि की। इस नई खोज पर, योरप का 'नोबुल'-प्राइज़ क्यों न आपको मिले ?

सुहासिनी ने गंभीरता-सहित कहा—"तुम्हारी आज्ञा ही मेरे लिये सब कुछ है। मैं स्वयं अपने आप कभी नहीं जाती। न जाती, और न जाने की इच्छा ही करती हूँ, किंतु मा जो नाराज़ होती हैं।"

महेश बाबू ने जिज्ञासा-भरी दृष्टि से पूछा—"मा की आज्ञा श्रेष्ठ है कि मेरी ? मा को भी आज्ञा मानो और मेरी भी। जब राजकुमार आवें, तब उनके सामने से काम के बहाने उठ जाओ, और ज़रा बुद्धि से भी कुछ काम लिया करो।"

सुहासिनी ने अश्रुप्लावित नयनों से कहा—"जाओ, तुम्हारा हम पर विश्वास नहीं है।"

महेश बाबू ने हँसते हुए कहा—"वाह ! तुम पर विश्वास न होगा, तो होगा फिर किस पर ? हैं-हैं, तुम रोती क्यों हो ? मैंने आज तक क्या कभी तुम्हारा अविश्वास किया है ? जिस दिन तुम्हारा अविश्वास करूँगा, सुहासिनी, उस दिन मेरे लिये संसार शून्य होगा, पृथ्वी पर मेरा शरीर ही होगा, प्राण नहीं। मुझे सूर्य के ताप में विश्वास नहीं है, चंद्र की शीतलता में विश्वास नहीं है, किंतु तुममें विश्वास है। तुम मेरी प्राणेश्वरी हो। मेरी सब कुछ हो। मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। मनुष्य जिसे प्यार करता है, क्या कभी उसका अविश्वास कर सकता है ? तुम्हें सावधान करता हूँ। सावधान करना अविश्वास नहीं है।"

महेश बाबू का कंठ प्रेमावेग से काँपने लगा। प्रेम अवयवों से फूटकर बह निकला। सुहासिनी भी मौन हो सुनती रही। वह महेश बाबू की बातों से एक विशेष प्रकार का आनंद अनुभव करती रही।

सुहासिनी की आँखों में आँसू आए कि नहीं, यह तो नहीं मालूम, लेकिन अंचल से आँखें पोछती हुई अवरुद्ध कंठ से बोली—"तुम अविश्वास न करते होते, तो कभी मुझसे ये बातें न करते। मैं तुम्हें देखने के लिये कितनी आकुल रहती हूँ, तुम नहीं जानते। मेरे कान तुम्हारे ही शब्द सुनने के लिये आकुल रहते हैं, तुम्हारे सुंदर मुख देखने को नेत्र सदा रोया करते हैं, तुम क्या जानो? तुम पुरुष हो, रमणी का हृदय कैसे जान सकते हो? रमणी के हृदय में अगाध प्रेम का स्रोत बहा करता है। वह जिसे प्यार करती है, उसी ओर स्रोत भी अविराम गति से बहने लगता है। तुम क्या जानो, मैं तुम्हें कितना चाहती हूँ?"

यह कहकर सुहासिनी ने फिर अपनी आँखों को अंचल से पोछा।

महेश बाबू पानी-पानी हो गए।

धन्य हो रमणी के आँसू! तुम जो न करो, वह थोड़ा है!

महेश बाबू ने विनीत स्वर में कहा—"सुहासिनी, मुझे क्षमा करो, मैं तुम्हें मना नहीं करता, तुम पर मेरा विश्वास है। तुम कभी दूसरे को नहीं हो सकतीं। सुहासिनी, मुझे क्षमा करो।"

महेश बाबू ने सुहासिनी के पैरों पर अपना हाथ रख दिया।

सुहासिनी ने कहा—"हाँ-हाँ, यह क्या करते हो ? तुम हमारे पूज्य हो। तुम्हें यह नहीं शोभता।"

महेश बाबू ने कहा—"अपराध किया है, उसकी क्षमा चाहता हूँ। इसमें दोष क्या है ?"

सुहासिनी ने कहा—"नहीं, मैंने अपराध किया है, मुझे क्षमा करो।"

यह कह सुहासिनी ने महेश बाबू के पंजों में अपनी दो उँगलियाँ छुआकर अपने सिर पर लगा लीं।

महेश बाबू ने प्रेम की रोष-भरी दृष्टि देखकर कहा—"यह क्या सुहासिनी !"

सुहासिनी ने मुख नत करके कहा—"क्षमा-याचना।"

महेश बाबू ने पूछा—"तुम्हारा अपराध क्या था ?"

सुहासिनी ने उत्तर दिया—"तुम्हें दुःखित करना।"

महेश बाबू ने कहा—"सुहासिनी ! यह तुम्हारा अन्याय है। अपराध मेरा था, जो मैंने तुम्हारा अविश्वास किया; न कि तुम्हारा।"

सुहासिनी ने उत्तर दिया—"दोनो का था। दोनो ने एक दूसरे को क्षमा कर दिया, और दोनो ने क्षमा माँग ली।"

महेश बाबू मन-ही-मन फूल गए कि सुहासिनी उन्हीं से प्रेम करती है। उन्हीं की है।

हाय रे ! अंध पुरुष-जाति।

(२)

प्रेमनाथ—"स्त्री-जाति पर विश्वास करना मूर्खता है। मनुष्य चाहे अग्नि पर विश्वास कर ले कि यह जलावेगी नहीं, सर्प पर विश्वास कर ले कि काटेगा नहीं, किंतु स्त्री-जाति पर विश्वास करना मूर्खता है।"

महेश बाबू ने मेज़ पर हाथ पटकते हुए, अपनी बात पर ज़ोर देते हुए कहा—"यह तुम्हारा अन्याय है, प्रेम! स्त्री-जाति को दूषित मत करो। स्त्री-जाति सर्वदा से पूज्य है। यदि तुम एक स्त्री को प्यार करो, तो ज़रूर उससे प्रेम पाओगे। तुम निष्कलंक हो, तो तुम्हारी स्त्री कभी दूषित नहीं हो सकती। तुम स्वयं चरित्र-हीन हो, और स्त्री को सती-साध्वी बनाना चाहते हो, यह तुम्हारी भूल है। तुम स्वयं पहले सच्चरित्र बनो, फिर देखो, कैसे तुम्हारी स्त्रियाँ तुम्हारी आज्ञावर्तिनी नहीं होतीं। तुम उन पर विश्वास करो, फिर देखो, कैसे वे तुम पर विश्वास नहीं करतीं। तुम तो उनके साथ विश्वासघात करते हो, और प्रत्युपकार में चाहते हो उनसे विश्वास। यह स्वयं तुम्हारी भयंकर भूल है, मूर्खता है।"

प्रेमनाथ—"पुरुष-जाति को ईश्वर ने सर्वश्रेष्ठ बनाया है। स्त्रियाँ उनकी आज्ञावर्तिनी हैं। पुरुष बंधन-हीन हैं, और स्त्रियाँ पराधीन! पुरुषों की इच्छा सब कुछ है, और स्त्रियों की कुछ नहीं। उनके स्वत्वों को पैरों से कुचल दो। उनके अधिकारों की चर्चा ही शास्त्र में नहीं। वे हैं क्या? कुछ नहीं। वे लताएँ हैं,

पुरुष वृक्ष है। वृक्ष के सहारे लताएँ खड़ी होती हैं। जहाँ वृक्ष गिरा, वे भी पृथ्वी पर लुंठित होकर धूल में मिल जाती हैं।"

महेश बाबू—"वाह! खूब समझाया। स्त्रियों को शायद ब्रह्मा ने गढ़ा ही नहीं? क्या वे वृक्षों की भाँति पैदा होती हैं। वे भी अपनी माता के गर्भ से उत्पन्न होती हैं। पुरुष और स्त्रियों का उद्गम एक ही है। रही शास्त्र की बात, वे पुरुष-रचित हैं, स्त्री-रचित नहीं। यदि आज के दिन स्त्री-रचित शास्त्र होते, तो क्या पुरुष-जाति इतनी उच्छृंखल, उद्दंड और पिशाच हो सकती थी, वह भी नियमों में बाँध दी जाती। तुम्हें मालूम है कि लता वृक्ष के सहारे बढ़ती है। अगर वृक्ष सीधा होता है, तो लता भी सीधी ही चढ़ती है, अगर वृक्ष तने से सीधा हो, और ऊपर से नीचे की ओर झुका जा रहा हो, तो लता भी उतनी दूर सीधी ही चढ़ेगी, और फिर वह वृक्ष के साथ ही भूमि की ओर झुक पड़ेगी। यह है प्राकृतिक नियम। यदि पुरुष सच्चरित्र है, तो स्त्री भी अवश्य साध्वी होगी, और अगर पुरुष ख़राब है, तो स्त्रियाँ भी ख़राब होंगी। पैसे देकर गिन्नी की आशा करना मूर्खता नहीं, तो क्या बुद्धिमानी है?"

प्रेमनाथ—"लेकिन स्त्री-जाति पर विश्वास न करना चाहिए। देखो, नीतिकार ने भी कहा है—'स्त्रियाश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः।'"

महेश—"जहाँ नीतिकार ने यह कहा है, वहाँ हिंदू-शास्त्रों के जन्मदाता मनु ने भी कहा है—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र

देवताः।' स्त्री से प्रेम करो, प्रेम मिलेगा। घृणा करो, घृणा मिलेगी। विश्वास करो, विश्वास मिलेगा।"

प्रेमनाथ—"तुम अपनी सुहासिनी पर विश्वास रखते हो?"

प्रेमनाथ महेश के अंतरंग मित्र हैं। सुहासिनी और महेश का प्रेम इन्हें विदित है। महेश कभी प्रेमनाथ से कोई बात नहीं छिपाते, और प्रेमनाथ कभी महेश से नहीं छिपाते।

महेश—"हाँ, मुझे सुहासिनी पर विश्वास है।"

प्रेमनाथ—"अगर तुम्हारी सुहासिनी राजकुमार के पास बैठी हो, तो तुम कुछ भी अपने मन में ख़याल तो नहीं करोगे? तुम्हारा हृदय क्या धक-से न रह जायगा? एक प्रकार का भय, क्रोध तुम्हारे अंग में तड़ित्-प्रवाह की भाँति न बहने लगेगा?"

महेश ने सकपकाते हुए उत्तर दिया—"हाँ...क्या कहा ?"

प्रेमनाथ (ज़ोर देकर)—"कहा क्या, यही कहा कि अगर सुहासिनी को राजकुमार के पास देख लो, तो तुम्हारा मन क्रोध से, घृणा से नहा न उठेगा?"

महेश ने कोई उत्तर न दिया।

प्रेमनाथ ने कहा—"बोलो, उत्तर दो, चुप क्यों हो?"

महेश—"ज़रूर मेरे मन को कष्ट मिलेगा।"

प्रेमनाथ ने व्यंग्य स्वर में कहा—"कष्ट क्यों मिलेगा, तुम्हारा तो सुहासिनी पर विश्वास है। अरे, तुम उसका अविश्वास क्यों करते हो?"

महेश—"क्या कष्ट मिलना अविश्वास करना है।"

प्रेमनाथ—"अवश्य, अगर वही स्त्री अपने भाई के पास बैठी हो, तो क्यों तुम्हारे हृदय को कष्ट नहीं मिलता। तब नहीं मिलता, इसलिये कि तुम्हारा विश्वास उसके भाई के ऊपर है, न कि तुम्हारी स्त्री के ऊपर। तुम जानते हो कि वह उसका भाई है, उससे उसकी कुछ भी हानि नहीं होने की, इसीलिये तुम्हारे मन को कष्ट नहीं मिलता।"

महेश निरुत्तर रहे।

प्रेमनाथ—"बोलो, निरुत्तर क्यों हो?"

महेश—"तुमने मुझे बड़ी विकट समस्या में डाल दिया।"

प्रेमनाथ—"समस्या कैसी, सीधी बात है। पुरुष स्त्री के भाई का विश्वास करता है, न कि स्त्री का।"

महेश—"शायद ऐसा ही हो।"

प्रेमनाथ—"अच्छा महेश, तुम्हारा मुझ पर विश्वास है?"

महेश—"अगर तुम पर मेरा आंतरिक श्रद्धा-विश्वास न होता, तो मैं कभी जीवन की ये गुप्त घटनाएँ तुम पर प्रकट न करता।"

प्रेमनाथ—"अगर तुम मुझे अपनी सुहासिनी के पास बैठे देख लो, और देख लो मुझे उसका हाथ पकड़े हुए, तो क्या तुम्हारी यह श्रद्धा मेरे प्रति रहेगी? क्या तब भी तुम मुझे चाहोगे?"

महेश—"हाँ, तुम्हें मैं कभी अविश्वास की दृष्टि से नहीं देख सकता। एक बार चाहे सुहासिनी को तुम्हारे अंग-पाश में ही क्यों न देख लूँ।"

प्रेमनाथ ने हँसकर उत्तर दिया—"क्या यह तुम स्वच्छ हृदय से कहते हो ?"

महेश—"हाँ, स्वच्छ हृदय से प्रेमनाथ ! तुम्हारे ऊपर मेरी श्रद्धा कभी कम नहीं हो सकती ।"

प्रेमनाथ—"ये कोरी बातें-ही-बातें न समझो, एक दिन तुम अवश्य सुहासिनी को मेरे आलिंगन-पाश में बद्ध देखोगे, और उसी दिन तुम्हें दिखा दूँगा कि स्त्रियों पर विश्वास करना मूर्खता है ।"

इसी समय महेश के दूसरे मित्र उमाकांत बाबू ने प्रवेश किया । दोनो मित्रों ने विषय बदल दिया ।

उमाकांत, महेश और प्रेमनाथ, ये तीनो बड़े मित्र हैं । इनकी मित्रता इनके अध्ययन-काल से ही है ।

(३)

ईश्वर ने किस वस्तु से रमणी का हृदय रचा है, यह नहीं मालूम । रमणी एक मोहिनी शक्ति है—रमणी एक माया-भरी चितवन है—रमणी एक कपट-जाल है, जिसमें अभागे मनुष्य आ-आकर फँस जाते हैं । रमणी का हृदय बड़ा चंचल है । कहते हैं, पारा बड़ा चंचल है, वायु चंचल है, किंतु नहीं, शायद उससे भी अधिक चंचल है रमणी का हृदय । शेक्सपियर ने कहा है—"Frailty, thy name is woman" चापल्य ! तेरा नाम स्त्री है । या यों कहिए कि स्त्री-जाति ही चपलता है, चपलता का दूसरा नाम स्त्री है । ये हैं पश्चिम के विचार ।

सुहासिनी महेश बाबू को भुलाए हुए है। महेश बाबू यही जानते हैं कि सुहासिनी उन्हीं से प्रेम करती है, लेकिन यह ठीक नहीं है। सुहासिनी किसी से भी प्रेम नहीं करती, राजकुमार से भी नहीं। स्त्री सर्वदा एक नवीन चीज़ की खोज में रहती है। जब तक वह उसे नहीं मिलती, तब तक वह उसे अपना लेने की कोशिश करती है, जहाँ उसे वह मिल गई, बस वहीं उसकी सारी आशा पूर्ण हो गई, फिर उसे ठुकराकर, दूर कर देना चाहती है। राजकुमार जब तक सुहासिनी से प्रेम नहीं करते रहे, तब तक सुहासिनी सदा उनके पाने का यत्न करती रही, और जहाँ राजकुमार उसके प्रेम-जाल में फँस गए—सुहासिनी के हृदय की आशा पूर्ण हो गई—वहाँ फिर सुहासिनी ने छोड़ दिया। राजकुमार के बाद महेश बाबू को पकड़ा, महेश बाबू भी उसके रूप-जाल में फँस गए, फिर उनकी भी कुछ परवा न रही।

सुहासिनी एक नवशिक्षित घर की बालिका है। सुहासिनी के पिता कृष्णचंद्र बैरिस्टर हैं। सुहासिनी की माता डिप्टी-कलेक्टर की लड़की हैं। आप दो बार इँगलैंड हो आई हैं। एक बार तो अपने पिता के साथ, और फिर अपने स्वामी के साथ। आप बड़ी फ़ैशनेबुल हैं। आपके कपड़े विलायती इत्रों से सर्वदा तर रहते हैं। मिस्टर कृष्णचंद्र की बैरिस्टरी खूब चलती है। लाखों रुपयों की आय है। फिर उनकी बीबी फ़ैशनेबुल क्यों न हों।

महेशचंद्र नगर के प्रसिद्ध वकील प्रकाशचंद्र के एक-मात्र

पुत्र हैं। सुशिक्षित हैं। एम्० ए० पास हैं। डिप्टी-कलेक्टरी के लिये कोशिश हो रही है। आपकी माता हिंदू-घर की विदुषी रमणी हैं। इसीलिये महेशचंद्र सुशिक्षित होते हुए भी बिगड़े नहीं हैं। हिंदू-संस्कारों ने अपना घर कर लिया है।

राजकुमार इँगलंड से आई० सी० एस्० पास हैं। नगर के डिप्टी-कलेक्टर हैं।

प्रेमनाथ के पिता श्यामाचरण एक व्यवसायी पुरुष हैं। बड़ा भारी कारोबार है। आप भी एम्० ए० पास हैं। नगर के एक कॉलेज में प्रोफ़ेसर हैं।

तीनो अविवाहित हैं। तीनो भिन्न-भिन्न जाति के हैं। किंतु ये लोग तो जाति-भेद मानते ही नहीं। तीनो बराबर सुहासिनी के यहाँ आते-जाते हैं। मिस्टर कृष्णचंद्र की इच्छा है कि सुहासिनी इन्हीं तीनो में से किसी को वरे। अभी तक बाबू प्रेमनाथ तो सुहासिनी के प्रेम-जाल से अलग रहे। वह बिलकुल किनारा खींचे रहे, इसलिये कि महेश बाबू सुहासिनी से प्रेम करते हैं। प्रेमनाथ की महेश से बड़ी मित्रता है। वे दोनो मित्रता का मूल्य स्त्री-प्रेम से उच्च समझते हैं। एक सामान्य स्त्री के लिये आपस में वैमनस्य हो, यह प्रेमनाथ की इच्छा नहीं है।

संध्या-काल है। घर-घर में प्रदीप जल उठे। हिंदू-रमणियाँ तुलसी के नीचे सांध्य प्रदीप जलाकर रख गई हैं। वे उत्कंठित हृदय से स्वामी के घर आने की राह देख रही हैं। किंतु सुहा-

सिनी अपने स्वामी नहीं, खिलौना राजकुमार के आने की राह देख रही है।

राजकुमार ने हँसते हुए प्रवेश किया। सुहासिनी भी मुस्करा दी।

राजकुमार ने अपनी हैट टेबुल पर रखते हुए कहा—"उफ़! आज बड़ी सर्दी है।"

सुहासिनी ने मुस्किराते हुए उत्तर दिया—"कार्त्तिक-मास समाप्त होने आया, सर्दी के दिन हैं ही। आपने हैट क्यों उतार दी?"

राजकुमार ने मुस्किराते हुए उत्तर दिया—"It is out of etiquette, नारी का मान करना पुरुषों का धर्म है।"

सुहासिनी ने हँसते हुए कहा—"हाँ-हाँ, ठीक है।"

राजकुमार ने हँसी छिपाते हुए कहा—"महेश बाबू आते तो हैं?"

सुहासिनी की मुख-श्री क्षण-भर के लिये अंतर्हित हो गई। अपने को सँभालकर कहा—"आते होंगे, मुझे क्या पड़ी है। जभी आते हैं, जलाने ही आते हैं। उनको देखकर मेरा रक्त उबल उठता है। उनको देखकर घृणा उत्पन्न हो जाती है।"

राजकुमार ने हँसते हुए कहा—"होगा, मैं भी उन्हें देख नहीं सकता। मुझे कभी-कभी भय होता है कि कहीं तुम्हें हाथ से खो न बैठूँ, इसीलिये उनको देखकर मेरी तबियत घबरा जाती है।"

सुहासिनी ने साभिमान कहा—"यही तुम्हारा विश्वास है।"

राजकुमार—"विश्वास तो तुम पर बहुत है, किंतु भय होता ही है।"

सुहासिनी ने और भी कंठ रुद्ध करके कहा—"अगर तुम्हारा विश्वास होता, तो कभी तुम ऐसी बात न कहते।" यह कहकर सुहासिनी ने अपना मस्तक राजकुमार बाबू के कंधे पर रख दिया, और अधखुली आँखों से, माया-भरी चितवन से देखने लगी। बेचारे राजकुमार अब और न सहन कर सके, धीरे-धीरे सप्रेम, सादर, सस्नेह उसके मुख को उठाकर उन्होंने उसके गोल-गोल गुलाबी गालों को चूम लिया। सुहासिनी ने लज्जित होकर कहा—"जाओ, अभी कोई देख लेता, तो क्या होता?"

राजकुमार ने हँसते हुए उत्तर दिया—"अरे, होता क्या? लोग कहते, विवाह के पहले ही वर ने वधू का मुख चूम लिया। यह कोई आज नया तो किया नहीं। पहले भी तो कई बार...।"

सुहासिनी ने अपने नन्हे-नन्हे हाथों से राजकुमार का मुख बंद कर दिया। राजकुमार ने इस बार उसकी गदेली चूम ली। सुहासिनी ने फिर झट से अपना हाथ भी खींच लिया। राजकुमार ने खड़े होकर जबरदस्ती सुहासिनी को उठाकर अपने आलिंगन-पाश में बद्ध कर लिया। सुहासिनी ने भी आत्म-समर्पण कर दिया। राजकुमार बार-बार उसके सुंदर मुख को चूमने लगे।

इसी समय किसी के पैर के शब्द ने दोनो को चौंका दिया। सुहासिनी के माता-पिता दोनो क्लब गए हुए थे। महेश बाबू

के आने का समय था ही नहीं। सुहासिनी भी निर्भय चित्त से राजकुमार से प्रणय-लीला कर रही थी। दोनो ने चौंककर भीत तथा कंपित हृदय से देखा, द्वार पर मुस्किराते हुए बाबू प्रेमनाथ खड़े थे।

प्रेमनाथ ने फिरते हुए कहा—"बड़े असमय में आया। मैं समझता था कि यहाँ पर बाबू कृष्णचंद्र से भेंट होगी, इसीलिये विना आज्ञा लिए चला आया, और उनसे कुछ विशेष काम था। क्षमा कीजिएगा। मैं जाता हूँ, फिर कभी आऊँगा।"

सुहासिनी ने एक क्रोध-भरी दृष्टि राजकुमार की ओर निक्षेप करके माने कहा—"तुम्हीं ने आज बुरी तरह से लज्जित किया। फिर मुख नत करके सलज्ज कंठ से कहा—"बाबू और मा दोनो क्लब गए हैं। जाते कहाँ हैं, बैठिए।"

राजकुमार ने अपनी हैट उठाकर कहा—"अच्छा सुहासिनी, मैं जाता हूँ।" और बग़ैर कुछ कहे हुए, उत्तर की उपेक्षा करके वायु के वेग से बँगले के बाहर चले गए।

प्रेमनाथ धीरे-धीरे आकर उसी कुर्सी पर बैठ गए, जहाँ पर अभी तक मिस्टर राजकुमार आधिपत्य जमाए हुए थे।

दोनो कुछ देर तक मौन रहे।

सुहासिनी ने अपने को सँभालकर कहा—"मिस्टर राजकुमार बड़े जंगली हैं। आज इन्होंने जैसा मेरा अपमान किया, वैसा किसी ने भी नहीं किया। आप आ गए, नहीं तो न-जाने क्या होता।"

प्रेमनाथ ने मन-ही-मन हँसते हुए उत्तर दिया—"मिस्टर राजकुमार का यह व्यवहार पाशविक था।"

सुहासिनी ने ढाढ़स की निश्वास खींचते हुए कहा—"मैं नहीं जानती, किस प्रकार आपको धन्यवाद दूँ।"

प्रेमनाथ ने मन-ही-मन कहा, धन्यवाद दोगी या अभिशाप। फिर कहा—"धन्यवाद की कौन ज़रूरत ?"

सुहासिनी ने कृतज्ञता दिखाते हुए कहा—"आपने जो मेरी बड़ी विपद् से रक्षा की। नारी के लिये इससे बढ़कर संकट-काल शायद और नहीं।"

प्रेमनाथ—"शायद नहीं।"

सुहासिनी—"यह बात मैं बाबूजी से कहूँगी।"

प्रेमनाथ (मन-ही-मन)—"डर है कि कहीं मैं न कह दूँ।" (ऊपर से) "जाने दो। इस बार क्षमा करो। अभी हम और तुम दोनो ही जानते हैं। फिर सब कोई जान जायँगे। अपना मुँह कैसे दिखा सकोगी।"

सुहासिनी ने कुछ सोचते हुए कहा—"ठीक है।"

प्रेमनाथ मन-ही-मन खूब हँसे। सुहासिनी के मन का खटका निकल गया।

प्रेमनाथ ने उठते हुए कहा—"अब चलूँगा।"

सुहासिनी—"यह क्या अभी से ? थोड़ी देर और बैठिए।

प्रेमनाथ—"नहीं, जाना ही पड़ेगा।"

सुहासिनी—"फिर कल आइएगा ! सवेरे।"

प्रेमनाथ—"शायद न आ सकूँ।"

सुहासिनी—"For my sake at least कम-से-कम मेरे ऊपर अनुग्रह करके अवश्य आइएगा।"

प्रेमनाथ—"अच्छा, आऊँगा।"

प्रेमनाथ चले गए। सुहासिनी सोचने लगी। आज न-जाने कैसे यह कहाँ से आ गया। सब गुड़ गोबर कर दिया। राजकुमार कई दिन से रूठे हुए थे, आज मनाने का समय मिला, तो आप चट हाज़िर। राजकुमार, उन्हें जाने दो। डिप्टी-कलेक्टर हैं। रुपया नहीं है। सुंदर भी नहीं हैं। महेशचंद्र सुंदर हैं। शांत हैं, किंतु भोले हैं। यह भी ठीक नहीं। प्रेमनाथ? सर्वगुण-संपन्न हैं। क्या सुंदर गोल मुँह है। गालों पर ललाई है। कैसी आँखें हैं। क्या सुंदर मन है। क्या पुष्ट शरीर है। हाथों में शक्ति होते हुए भी कठोरता नाम को भी नहीं। कैसा गोरा रंग है, मानो European हैं। सुहासिनी, अगर तू प्रेमनाथ को अपने रूप-जाल में, प्रेम-जाल में आबद्ध न कर सकी, तो यह रूप किस काम का? प्रेमनाथ! क्या सुहासिनी के जाल से बचकर चले जाओगे। दो को तो फाँस लिया। वे दोनो मेरे आज्ञाकारी दास हैं। तुम्हें भी वैसा बनाके न छोड़ा, तो मेरा नाम सुहासिनी नहीं।

सुहासिनी सगर्व अपना मुख दर्पण में देखने लगी।

(४)

प्रेमनाथ का आना-जाना होने लगा। सुहासिनी भी उन्हें

अपने कौशल-जाल में फँसाने लगी। प्रेमनाथ भी अनबूझ की भाँति फँसने लगे। फँसने लगे सुहासिनी की समझ में। किंतु उसकी गढ़ी प्रेम-बातों पर हँसते मन-ही-मन में।

पूर्णिमा का चाँद अवलोकते हुए सुहासिनी ने कहा—"प्रेम बाबू, तुम आजकल बहुत गंभीर रहते हो।"

प्रेमनाथ ने हँसने का प्रयत्न करते हुए कहा—"गंभीर, गंभीर कहाँ रहता हूँ, और अगर गंभीर रहूँ भी, तो वह भी तुम्हारी कृपा है।"

सुहासिनी ने मंद मुस्किराते हुए कहा—"वह कैसे ?"

प्रेमनाथ—"यही कि मैं तुम्हें देखे बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता।"

सुहासिनी ने जाना कि उसके स्वर्ण-जाल में पक्षी फँस गया। उसने आश्चर्य के साथ मुँह बनाकर हँसते हुए कहा—"धन्य भाग्य ! मैं समझी थी कि आप मुझसे घृणा करते हैं।"

प्रेमनाथ ने और भी आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"घृणा ! सुहासिनी ! और तुमसे ? असंभव ! सुहासिनी, मुझे पागल न किए दो। ठहरो, मैं पागल हो जाऊँगा।"

सुहासिनी ने मुस्किराते हुए एक वंकिम कटाक्ष-सहित कहा—"वाह, मैं तुम्हें पागल बना सकती हूँ। क्या तुम मेरे पीछे पागल हो जाओगे ?"

प्रेमनाथ ने कहा—"नहीं तो क्या तुम हो जाओगी। सुहासिनी, मैं तुमसे...... ।"

सुहासिनी ने मन-ही-मन प्रसन्न होते हुए कहा—"क्या कहा प्रेम बाबू ?"

प्रेमनाथ ने कहा—"साहस नहीं पड़ता कि मैं कहूँ। मुझे अभय दो सुहासिनी कि तुम रुष्ट न होगी।"

सुहासिनी ने व्रीड़ावती बालिका की भाँति कहा—"मैं तुमसे रुष्ट होऊँगी प्रेम ! कभी नहीं। तुम जो चाहो, कहो।"

प्रेमनाथ ने अपने घुटनों को टेकते हुए कहा—"सुहासिनी, बोलो, निराश तो नहीं करोगी। मैं तुमसे प्रेम करता हूँ। यदि प्रेम करना अपराध हो, तो क्षमा करना। मैं उसी अपराध का अपराधी हूँ। सुहासिनी, मैं तुम्हारे सामने बैठा हूँ। दंड दो।"

सुहासिनी ने अपना हाथ देते हुए कहा—"मेरे प्रेम ! मेरे आराध्य !! उठो !!! मैं भी तुम्हें चाहती हूँ। मैं तुमसे प्रेम करती हूँ। आज मेरे मन की वासना सफल हुई। प्रेम, तुमको पाकर मैं सब कुछ पा गई। तुम मेरे हो सके, संसार मेरा हो गया।"

इसी समय फूलबाग़ की घड़ी ने टन-टन सात बजा दिए।

प्रेमनाथ ने उस निभृत निकुंज में सुहासिनी को अपने हृदय से लगा लिया। सुहासिनी भी सप्रेम उनसे लिपट गई। दोनो एक दूसरे का अधरामृत पान कर रहे थे।

सहसा पिस्तौल का शब्द हुआ, और प्रेमनाथ तथा सुहासिनी दोनो भूमि पर गिर पड़े ! एक व्यक्ति दौड़ता हुआ आया, और प्रेम को सुहासिनी से अलग करते हुए कहा—"हा !

इस बेचारे की मृत्यु निरर्थक हुई।" फिर उसने सुहासिनी की ओर देखकर कहा—"पापीयसी, प्रतारणा का फल मिला। विश्वासघात किया था।" यह कह उसने सुहासिनी के मृत शरीर को पैर से ठुकराकर अलग कर दिया।

उस व्यक्ति ने नोट-बुक निकालकर अपने फ़ाउंटेन पेन से चाँदनी के प्रकाश में लिखा—"मैं राजकुमार, इस बात को स्वीकार करता हूँ कि मैंने सुहासिनी और प्रेमनाथ को पिस्तौल से मारा है। इसीलिये स्वयं मैं भी आत्महत्या किए लेता हूँ, जिससे लांछित होने से बच जाऊँ।"

पिस्तौल मारनेवाला व्यक्ति राजकुमार था।

राजकुमार ने उस दिन इस आशय का पत्र पाया था—"आज कृपाकर संध्या सात बजे फूलबाग़ में टावरक्लाक के सामनेवाले निकुंज में मिलो। वहाँ एक विचित्र घटना देखने को मिलेगी।"

राजकुमार आज संध्या ही से आए हुए थे। उन्होंने सुहासिनी को प्रेमनाथ के साथ आते देखा था। फिर उसी कुंज में जाते देखा था, जिसका ज़िक्र पत्र में था। वह उत्सुक होकर देखने लगे कि मामला क्या है। उन्होंने सब सुना। जब आगे सह्य न हो सका, पिस्तौल मार दी। पिस्तौल केवल सुहासिनी को मारी थी, किंतु गोली सुहासिनी का वक्षःस्थल बेधती हुई प्रेमनाथ को भी लग गई। प्रेमनाथ ने भी गोली की पिपासा शांति कर दी।

राजकुमार ने स्वीकार-पत्र लिखकर, पिस्तौल की नली अपने मुख में रखकर मार ली। एक तृतीय मृत शरीर भी भूमि पर लोटने लगा!

पिस्तौल का शब्द सुनकर बहुत-से व्यक्ति दौड़ आए। आनेवालों में महेशचंद्र भी थे। महेश बाबू ने भी इसी आशय का पत्र पाया था। किंतु महेश बाबू ने कुछ ध्यान न दिया था, फिर भी वह घूमते हुए चले ही आए। सहसा दो पिस्तौल के शब्द सुनकर वह शीघ्रता से निकुंज की ओर दौड़े। जो दृश्य उन्होंने देखा, वह कल्पनातीत था। सुहासिनी, प्रेमनाथ और राजकुमार को मृत देखकर वह स्तंभित रह गए। शीघ्रता से प्रेमनाथ के शव के पास जाकर देखा कि गोली छाती पार कर गई है, किंतु साँस अब भी आती है। वह जल को चिल्लाने लगे।

कई मनुष्य दौड़कर जल ले आए।

प्रेमनाथ के मुख पर वह शीघ्रता से जल डालने लगे। कुछ समय बाद उनको होश आने लगा।

प्रेमनाथ ने अपने नेत्र खोलते हुए कहा—"मैं कहाँ हूँ? याद आया। सुहासिनी कहाँ है? क्या उसको भी गोली लगी? महेश कहाँ है?"

महेश ने रुँधे गले से कहा—"मैं यहीं हूँ प्रेम! सुहासिनी अच्छी है। कैसी तबियत है?"

प्रेमनाथ ने कहा—"गोली तुमने मारी थी महेश! छिः! कैसा ख़राब काम किया। मैंने तुमसे कह दिया था कि एक

दिन सुहासिनी को अपने अंक-पाश में दिखा दूँगा। वही दिखाने के लिये आज तुमको और राजकुमार, दोनो को बुलाया था। तुमने मुझे गोली मारी महेश! तुमने मेरा प्राण ले लिया! मैं अपना प्राण देकर तुम्हारे आगे क्या, संसार के आगे उदाहरण रखता हूँ कि रमणी का प्रेम तृष्णा है, लालसा है, और कुछ नहीं। महेश, क्षमा करो......।"

महेश ने चिल्लाकर कहा—"मैंने नहीं गोली मारी प्रेम! गोली मारनेवाला राजकुमार था।"

किंतु किसने उसके ये शब्द सुने?

प्रेमनाथ की अंतरात्मा गमन कर चुकी थी!

मीठी मुस्कान

(१)

उसकी मधुर मुस्कान को मैंने अपने स्मृति-मंदिर में बड़े यत्न से छिपा रक्खा है। उसकी हँसी अभी तक मेरे स्मृति-नाट्य-शाला में आकर नाच जाती है। उसकी हँसी देखकर मैं सब कुछ भूल जाता हूँ। मेरे नेत्रों के सामने और कुछ नहीं रहता, रहती है एक उसकी मीठी, मंद मुस्कान!

एक दिन मैंने हँसी में कहा था—"अगर मैं मर जाऊँ, तो तुम क्या करोगी?"

उसकी आँखें छलछला आई थीं। उसने रूठकर कहा था—"जाओ, मेरे सामने ऐसी बातें न किया करो।" फिर थोड़ी ही देर में उसके ओठों पर एक हास्य-रेखा दौड़ गई। उसने पूछा—"अगर मैं मर जाऊँ, तो तुम क्या करोगे?"

मैंने हँसते हुए कहा—"दूसरा विवाह।"

मैं भी हँस पड़ा, और वह भी हँस दी।

कुछ समय बाद उसने कहा—"तुम वही करना। मुझे मालूम होता है कि मैं अधिक दिन जीवित नहीं रहूँगी, तुम मेरे बाद दूसरा विवाह कर लेना।"

कहते-कहते उसकी आम की फाँक-जैसी सुंदर आँखें भर

आई। उसने मेरे वक्ष में अपना मुख छिपा लिया। मैंने सस्नेह उसे आबद्ध करके कहा—"देखो, ऐसा न कहो। तुम जानती हो, मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ। मैं तुम्हारे बग़ैर एक पल-भर जीवित नहीं रह सकूँगा।"

उसने हँसते हुए अपना मुख उठाकर कहा—"तुम लोग मुँह पर ऐसा ही कहा करते हो, पर मन में रहता है कि कब यह मरे, और कब एक नई-नई मिले। क्यों, ठीक है न?" यह कहकर वह हँस पड़ी।

मैंने कुछ अभिमान-मिश्रित स्वर में कहा—"क्या तुम मुझे भी उसी श्रेणी में रखती हो।"

उसने मुस्किराते हुए कहा—"नहीं, कभी नहीं। अगर और लोग अपनी स्त्री के मरने के बाद विवाह करें, तो तुम मेरे जीते ही विवाह करने को तैयार हो।"

मैंने उत्तर में कहा—"तो क्या तुम मुझे इतना अपदार्थ समझती हो।" उसने फिर हँसते हुए कहा—"अपदार्थ तुम्हें नहीं समझती, तुम्हें मैं अपने जीवन का ध्रुव-तारा समझती हूँ। लेकिन अभी मैंने पुरुष-जाति की प्रकृति का वर्णन किया है।"

मैंने कहा—"तो तुम मुझे और पुरुषों की प्रकृति से भी हेय समझती हो।"

उसने एक हास्योज्ज्वल कटाक्ष-निक्षेप करके कहा—"कभी नहीं, बल्कि उनसे सबसे पहले।" यह कह वह हँस पड़ी।

उस हँसी में श्लेष था, हास्य था, और कुछ व्यंग्य था।

मैं चुप रहा। हम दोनो नीरव बैठे रहे। उसकी हँसी चली गई थी, और अब मुख गंभीर हो गया था। उसने मेरी ओर एक वंकिम कटाक्ष-सहित कहा—"श्रीमन्, कहिए, आपका टेंप्रेचर कितनी डिगरी उठा।" मैं निरुत्तर रहा।

उसने एक बार मेरी ओर चकित दृष्टि से देखकर कहा—"क्यों, क्या हुआ। बोलते क्यों नहीं?" मैं फिर भी निरुत्तर रहा। उसने अपने रुद्ध कंठ से कहा—"क्या मुझसे कुछ अपराध हुआ है। अगर हो गया हो, तो क्षमा करो। ये सब बातें मैंने हँसी-मज़ाक़ में कही थीं। क्यों इतने नाराज़ हो गए। मुझे माफ़ करो।" उसके नेत्रों से गोल-गोल आँसू निकलने लगे। उसने मेरी गोद में मुख छिपा लिया।

मैं अब अपनी हँसी न रोक सका। अभी तक तो किसी प्रकार अपने को सँभाले हुए गंभीर मुद्रा से बैठा था, किंतु अब हँसी रोकने से भी नहीं रुक सकी। मुझे हँसते देख वह चौंक पड़ी, और अपना सिर मेरी गोद से निकालते हुए कहा—"यह सब तुम्हारा ढोंग था। बड़े......हो।"

वह साभिमान उठकर कमरे से बाहर चली गई। मैं कहता ही रहा—"सुनोजी, सुनो।" लेकिन कौन 'जी' सुनता है।

लगभग आध घंटे के बाद वह हाथ में दो पान लिए हुए फिर आई। मेरी ओर एक चंचल दृष्टि से देखकर कहा—"आप तो शायद पान खाते ही नहीं।" कहते-ही-कहते वे दोनो पान अपने मुँह में रख लिए।

मैंने भी हँसते हुए उत्तर दिया—"खाता नहीं हूँ, लेकिन खाने का ढोंग तो ज़रूर ही रचता हूँ।"

वह भी हँस दी और मैं भी हँस पड़ा।

मेरी ओर धीरे-धीरे बढ़ते हुए कहा—"अहह, ग़ुस्सा मत होना। लो, तुम्हारे लिये पान हैं।" यह कहकर एकदम चार-पाँच पान मेरे मुँह में ठूँस दिए।

मैं पानों को चबलाते हुए चौंक पड़ा, और जल्दी से उठकर बाहर को भागा। बाहर जाकर पान थूक दिया, और मुख भारी करके भीतर आकर कहा—"क्यों, अगर कोई बदला लेता है, तो क्या कोई किसी का मुँह फाड़ देता है। जनाब ने मारे ग़ुस्से के मेरा सारा मुँह-भर ककरी कर दिया। इसी तरह किसी दिन......।"

वह चली गई, और न ठहरी। मैं भी हँस पड़ा। मेरी भी युक्ति ने क्या मज़ा दिखाया। थोड़ी ही देर में वह फिर लौटी। अब की हाथ में दो पान थे। थोड़ा-सा कत्था और गिरी भी अलग से थी। उसने आकर कहा—"अपराध हुआ, मैंने जान-कर चूना ज्यादा नहीं लगाया था, वह हो गया। मुझे माफ़ करो। लो, यह पान खा लो।"

मैंने किंचित् रोष-पूर्ण स्वर में कहा—"नहीं, कभी नहीं; कभी तुम्हारे हाथ का पान नहीं खाऊँगा। उसने दोनो पान फिर मेरे मुँह की ओर बढ़ाते हुए कहा—"तुम्हें मेरी क़सम, खा लो, नहीं तो मुझे बहुत दुख होगा।"

मैंने रुक्ष स्वर में ही कहा—"अगर दुःख होगा, तो क्या करूँ ? तुम्हारे दुःख के लिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दूँ ? तुम भी अपने को इतना ख़ूबसूरत समझती हो कि मैं तुम्हारे लिये सब कुछ भूल जाऊँगा।"

बात असह्य थी। उसने मेरी ओर मलिन दृष्टि निक्षेप करके कहा—"मैं नहीं जानती थी।"

यह कहकर वह धीरे-धीरे बाहर की ओर जाने लगी।

मैंने देखा, बात तो बहुत बढ़ गई, और मैंने भी एक बड़ी ख़राब बात कह दी, जो उसकी-सी अभिमानिनी के ग़ुस्सा होने के लिये यथेष्ट थी।

मैंने शीघ्रता से बढ़कर, उसको पीछे से पकड़कर कहा—"अच्छा, लाओ, पान खिला दो।" उसने अपना हाथ छुड़ाते हुए कहा—"जो मुझसे अधिक ख़ूबसूरत हो, उसके हाथ से पान खाओ जाकर, जो अपनी सुंदरता का कत्था लगाकर तुम्हारा मुँह न फटने दे, उसी से पान लगवाकर खाओ।" मैंने उसके चिबुक को उठाकर कहा—"संसार में सबसे अधिक सुंदर मुख मेरे लिये है यह। जो मेरे लिये सबसे सुंदर है, उसी के हाथ का लगाया हुआ पान भी बड़ा सुंदर होगा। तुम तो बात-बात में रूठ जाती हो।"

अब की बार वह हँस पड़ी। उसने हँसते हुए कहा—"बाबूजी, क्या आप ही बदला लेना जानते हैं, और मैं नहीं। अरे, तुमको तो नाकों चने चबवाकर रुला न दूँ, तभी कहना।

ख़बरदार, आज से कभी मुझे मत ठगना। मैंने तुम्हारी हँसी सुनी थी, जब मैं दुबारा पान लेने चली गई थी।" यह कहकर वह विजय-हँसी हँसने लगी।

मैं अपनी मूर्खता पर पछताता रहा, उस वक़्त मैं क्यों हँसा ? हाय !

(२)

यमुना का नील सलिल देखते हुए कहा—"क्या यह सुख-स्वप्न सदा यों ही बना रहेगा ? क्या इसी भाँति हम दोनो एक दूसरे को यों ही प्यार करते रहेंगे ? क्या इसी तरह ये सुख के दिन हमेशा कटते जायँगे ? क्या वह कभी मुझे छोड़कर चली जायगी, या मैं कभी उसे छोड़कर......! अह, मन काँप उठता है। शरीर शिथिल हो जाता है। प्राण भयाकुल हो जाते हैं। भगवन् ! जब तक मैं जीऊँ, मेरे दिन इसी भाँति सुख से कटते जायँ। आपसे यही प्रार्थना है कि वह मुझसे कभी अलग न हो, और मैं उससे अलग न होऊँ।"

मैं पुलकित मन से प्रार्थना कर रहा था। विश्राम-घाट उस दिन नीरव था। केवल दो-चार को छोड़कर घाट शून्य था। मैं अपनी प्रार्थना में तल्लीन था। सहसा बाजे की आवाज़ सुनकर मेरा पूजा-ध्यान सब उचट गया। मैं उठकर खड़ा हो गया। धीरे-धीरे उस संगीत-ध्वनि की ओर बढ़ा। घाट के ऊपर ही एक बड़ा सुंदर मकान बना हुआ था। ध्वनि

उसी के एक कमरे से आ रही थी। मैं नीचे खड़ा रहा। किसी ने मधुर ध्वनि से गाना शुरू किया—

ऊधो, प्रेम की का याही रीत ?

पहले प्रेम कियो फिर छिन ही मा भूले सब प्रीत।

ऊधो, प्रेम की का याही रीत ?

मैं गाना सुनता ही रहा। उसमें तन्मय हो गया। मुझे चेतना तब हुई, जब एक नवयौवना बाला ने आकर कहा—"यहाँ कैसे खड़े हैं ? ऊपर चलिए, अगर गाना ही सुनने की इच्छा है।"

मैंने अकचकाकर उस मनोहारिणी रूपसी की ओर देखकर कहा—"नहीं-नहीं, मैं यों ही खड़ा हो गया था। माफ़ कीजिएगा, अभी जाता हूँ।"

यह कहकर मैं जाने पर उद्यत हुआ। मुझे जाते देखकर उस रूपवती ने मेरी ओर एक वंकिम कटाक्ष निक्षेप करके कहा—"आप जा क्यों रहे हैं, ऊपर चलिए न।"

न-जाने किस आकर्षण से मेरे मन में ऊपर जाने की इच्छा हुई, किंतु जाने में भी एक तरह का संकोच बोध हो रहा था।

मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया, चुप खड़ा रहा। उसने एक बार फिर मेरी ओर देखकर कहा—"आइए, मैं लिए चलती हूँ।"

मैंने पूछा—"यह किसका मकान है ?"

बाला ने एक बार ताज्जुब के साथ देखा। उसने धीरे-धीरे कहा—"तो क्या आप विदेशी हैं ?"

मैंने केवल-मात्र कहा—"हूँ ।" बाला ने उत्तर दिया—"तब यह कोठी 'महारानीजी' की है ।"

मैंने पूछा—"कौन महारानी, कहाँ की ?" उसने उत्तर में कहा—"रानी रामेश्वरीदेवी, बल्लभगढ़ की ।"

मैंने पूछा—"रानी क्या पर्दे में नहीं रहतीं ?" बाला ने उत्तर दिया—"रानी बूढ़ी हैं । वह सबको अपने पुत्र के समान प्यार करती हैं । सभी उन्हें मा कहकर पुकारते हैं ।"

मैंने पूछा—"अभी गा कौन रहा था ?"

बाला ने उत्तर दिया—"वह रानी की एक परिचारिका है । रानीजी को गाना सुनने का बड़ा शौक़ है, इसीलिये उन्होंने चार-पाँच गानेवाली रख ली हैं । चलिए, आइए ऊपर !"

मैं धीरे-धीरे उसके पीछे हो लिया ।

एक सुसज्जित कक्ष में रानी रामेश्वरीदेवी पलंग पर बैठी थीं । मुझको देखकर वह उठ खड़ी हुईं, और एक मतलब-भरी दृष्टि से उस रूपसी बाला की ओर देखा । बाला ने कहा—"माजी, यह एक विदेशी सज्जन हैं, दरवाज़े पर खड़े हुए केतकी का गाना सुन रहे थे । आपको गाना गाने और सुनने का बड़ा शौक़ है । ऊपर आने में संकोच हो रहा था, इसीलिये मैं इन्हें लिवा लाई हूँ ।" इतना कहकर वह सुंदरी मेरी ओर एक तिरछी दृष्टि से देखकर धीरे-धीरे मुस्किरा दी ।

रानीजी ने कहा—"आओ बेटा, नीचे क्यों खड़े थे । कोई मा के घर के बाहर खड़ा रहता है ।"

मैंने कहा—"ऐसे ही खड़ा हो गया था। पहले मुझे मालूम नहीं था कि यह 'मा' का घर है, नहीं तो मैं ज़रूर ऐसी देवी-स्वरूपा मा की चरण-धूलि लेकर अपने को कृतार्थ करता।"

रानीजी ने हँसते हुए कहा—"आओ, बैठो।"

मैं धीरे-धीरे जाकर नीचे फ़र्श पर बैठ गया।

रानी रामेश्वरीदेवी की आयु लगभग ५० वर्ष के होगी। बाल सफ़ेद हो गए थे, किंतु मुख पर अब भी प्रौढ़ता के चिह्न अवशेष थे। बातचीत से बड़ी ख़ुशमिज़ाज मालूम होती थीं। उनका रंग पक्का था, और गठन अब भी ख़ूबसूरत थी। उन्होंने मेरी ओर एक बार देखकर पूछा—"क्यों बेटा, तुम कहाँ रहते हो?"

मैंने उत्तर दिया—"कानपुर में।"

रानीजी ने पूछा—"शुभ नाम?"

मैंने उत्तर दिया—"शिवनाथ सिनहा।"

रानीजी ने पूछा—"यहाँ कैसे आए?"

मैंने उत्तर दिया—"यों ही घूमने की ग़रज़ से।"

रानीजी ने कहा—"अच्छा किया। यहाँ पर कब तक रहने का इरादा है?"

मैंने कहा—"यही चार-पाँच दिन।"

रानीजी ने कहा—"यहाँ पर कहाँ ठहरे हो?"

मैंने कहा—"तुलसी-चौरा में।"

रानीजी ने कहा—"ख़ैर, जब कभी तुम्हें गाना सुनने की इच्छा हुआ करे, तब यहाँ चले आया करो।"

मैंने विनीत स्वर में कहा—"बहुत अच्छा, लेकिन मैं परसों ही यहाँ से जानेवाला हूँ।"

रानीजी ने कहा—"इतनी जल्दी। कोई मा के घर से इतनी जल्दी भाग जाता है।"

मैंने कुछ उत्तर न दिया—धीरे-धीरे हँस दिया।

रानी ने फिर कहा—"बेटा, तुम्हीं कुछ गाकर सुनाओ।"

मैंने एक लज्जा की हँसी हँसकर कहा—"मैं गाना नहीं जानता!" रानी मेरी ओर देखकर मुस्किराईं।

एक नवयुवती रूपसी ने मुस्किराते हुए रानीजी से कहा—"मा, यह बिलकुल असंभव बात है! जो गाना सुनने के लिये नीचे खड़ा रहता है, सुनते-सुनते उसमें लीन हो जाता है, भला वह स्वयं न गाता हो?" यह कहकर, वह मेरी ओर देखकर एक कटाक्ष-सहित मुस्किराई!

उस सुंदरी ने, जो मुझे नीचे से ले आई थी, कहा—"माजी, जिस ढंग से यह ताल के साथ अपना सिर हिला रहे थे, उससे साफ़ ज़ाहिर होता था कि यह संगीत-कला के उस्ताद हैं।" यह कह मेरी ओर देखकर वह हँस दी। रानी मा और सभी सुंदरियाँ हँस पड़ीं। मैं चुपचाप बैठा रहा।

एक दूसरी मनोहारिणी बाला ने मेरे सामने हारमोनियम रखते हुए बड़े नाज़ोअंदाज़ से कहा—"आपको गाना ही पड़ेगा, चाहे जैसा हो।"

रानीजी ने भी कहा—"बेटा, गाओ न, यहाँ कौन शरम ?"

मैंने भी धीरे-धीरे हारमोनियम बजाना शुरू किया।

जिसने मेरे पास हारमोनियम लाकर रक्खा था, उसने कहा—"कोई वागेश्वरी सुनाइए, मुझे बहुत प्रिय है।"

मैंने स्वर देकर धीरे-धीरे गाना शुरू किया—

ऊधव, प्रीति किए पछितानी।
हम जानी ऐसी निबहैगी, उन कछु औरे ठानी ;
कारे तन को कौन पत्यानो, बोलत मधुरी बानी। ऊधव०।
हमको लिखि-लिखि जोग पठावत, आप करत रजधानी ;
सूनी सेज श्याम बिन मोको, तलफत रैन बिहानी। ऊधव०।

जिस समय मैंने गाना बंद किया, सबकी आँखें मेरे मुख पर गड़ी हुई थीं। रानीजी ने प्रशंसा-पूर्ण नेत्रों से देखकर कहा—"तुम बहुत अच्छा गाते हो, मेरे यहाँ इतनी हैं, तुम्हारे बराबर कोई नहीं गा सकती।"

मैंने उठते हुए कहा—"ऐसा ही थोड़ा-बहुत जानता हूँ।"

रानीजी ने मेरी ओर देखकर कहा—"कहाँ ?"

मैंने खड़े होकर कहा—"रात हो गई है। घर जाऊँगा। अँधेरे में तो रास्ता भूल जाने का डर है। अब आज्ञा दीजिए। समय मिला, तो आपके दर्शन फिर करूँगा।"

जिसने मेरी ओर हारमोनियम सरकाया था, उसने एक दर्द-भरी दृष्टि से देखकर कहा—"अभी और बैठिए न। रानी मा आदमी साथ कर देंगी, फिर आप घर न भूल

सकेंगे ?" यह कह उसने एक मनोहर कटाक्ष-सहित मेरी ओर देखा, और फिर अपना मुख नत कर लिया।

मैंने अब और ठहरना उचित न समझकर कहा—"नहीं, जाना ही होगा ! अभी और बहुत-से काम करने हैं।"

उसने एक और वेदना-पूर्ण कटाक्ष निक्षेप करके कहा— "कल तो आइएगा ?"

रानीजी ने कहा—"हाँ बेटा, कल ज़रूर आना। मुझे तुम्हारा गाना बहुत अच्छा लगा। इस घर को अपनी मा का घर ही समझना।"

मैंने विनम्र कंठ से कहा—"जी हाँ, समय मिलते ही आऊँगा।" यह कहकर मैं धीरे-धीरे द्वार की ओर बढ़ा।

रानीजी ने उसी रूपसी से कहा—"केतकी, ज़रा नीचे तक पहुँचा तो आ।"

मुझे मालूम हुआ, उस नवयुवती का नाम केतकी था। वह मेरे साथ-साथ चली। मैंने रानी को प्रणाम किया, और कमरे के बाहर हो गया। केतकी भी मुझसे कुछ न बोली, और न मैंने कुछ कहा। दरवाज़े पर आकर उसने मेरी ओर भरपूर दृष्टि निक्षेप करके कहा—"कल ज़रूर आइएगा, चाहे जो कुछ हो, ज़रूर आइएगा, नहीं तो मुझे बड़ा कष्ट होगा। मेरे ऊपर दया करके आइएगा। आइएगा अवश्य।"

मैं संकुचित हो गया। अकेले में मुझे अन्य स्त्रियों से बातचीत

करने का अभ्यास न था। मैंने सिर नीचे किए हुए ही कहा—"हाँ-हाँ, ज़रूर आऊँगा।"

मैं दरवाज़े से बाहर हो गया, और सीधे सड़क नापनी शुरू की। थोड़ी दूर जाकर पीछे की ओर देखा। क्यों देखा, कह नहीं सकता, लेकिन देखा अवश्य कि केतकी अब भी दरवाज़े पर खड़ी थी, और मेरी ओर एकटक देख रही थी। मुझे फिरकर देखते हुए देख वह मुस्किरा दी। संभव है, वह मेरा भ्रम हो। लेकिन मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो वह मुस्किरा रही है।

(३)

घर आकर प्रतिज्ञा की कि अब फिर कभी रानी के यहाँ न जाऊँगा। सोते वक़्त इसी समस्या पर विचार भी करता रहा, फिर प्रतिज्ञा की, न जाऊँगा। लेकिन जब सुबह हुआ, सोकर उठा—मुझे मेरी प्रतिज्ञा स्मरण हुई, किंतु अब मेरी प्रतिज्ञा की दृढ़ता शिथिल-सी ज्ञात होने लगी। मेरे मन ने कहना शुरू किया—"जाने में, एक बार, शायद कुछ हर्ज नहीं है। मेरे न जाने से केतकी को कष्ट होगा। रानीजी ने भी आने को कहा है, अगर न जाऊँगा, तो वह क्या कहेंगी। एक बेर हो आने में हर्ज ही क्या है? आज ही जाऊँगा। ज़्यादा देर बैठूँगा भी नहीं। केवल दो घड़ी बैठकर चला आऊँगा।" किसी छिपी आवाज़ ने कहा—"तुम अपनी स्त्री के साथ विश्वासघात कर रहे हो।" मेरे मन ने कहा—

"इसमें विश्वासघात कैसा ? कहीं आने-जाने को क्या मना है।"

उसी आवाज़ ने फिर कहा—"वह प्रलोभन की जगह है, जहाँ प्रलोभन हैं, वहाँ मत जाओ। प्रलोभनों में फँसकर विश्वासघात कर सकते हो।"

मन ने कहा—"मैं तो उसे प्यार करता हूँ, जीवन से अधिक प्यार करता हूँ, फिर कैसे विश्वासघात कर सकूँगा। मैं कभी नहीं विश्वासघात करूँगा। उसी आवाज़ ने फिर कहा—"मेरा कहना मानो, मत जाओ।"

मन ने कहा—"अच्छा, तो न जाऊँगा।"

मैंने शय्या से उठकर फिर प्रतिज्ञा की—"न जाऊँगा।"

दिन-भर नाना प्रकार के कामों में, झंझटों में अपने मन को फँसाए रहा, किंतु ज्यों-ज्यों संध्या समीप आती जाती थी, मेरी प्रतिज्ञा की दृढ़ता में भी शिथिलता आती जाती थी। मेरा मन बार-बार वहाँ जाने को उतावला हो रहा था। आख़िर मन ही की जीत हुई। सब रोते-चिल्लाते रह गए। पैर विश्राम-घाट की ओर चल दिए। मैं भी अपनी इच्छा के विरुद्ध बरबस उसी ओर जाने लगा। रानीजी की कोठी के सामने आकर रुका। सोचने लगा, जाऊँ कि नहीं। मैं सोच ही रहा था कि ऊपर से किसी के खखारने की आवाज़ आई। मैंने सिर उठाकर देखा, ऊपर खिड़की पर केतकी खड़ी थी। उसके ओठों पर हँसी थी। मुख प्रफुल्ल था। हास्य-श्री से

एक प्रकार की अपूर्व सुंदरता छाई हुई थी। उसने इशारे से ऊपर आने को कहा। अब मैं न रुक सका। मैं अंदर घुसा। जीने पर ही केतकी मुझे मिली। उसने एक अदा से मेरा हाथ पकड़कर घसीटते हुए कहा—"आओ, मैं तो निराश हो गई थी, शायद तुम न आओ।"

उसने आज मेरे लिये तुम इस्तेमाल किया।

एक क्षणिक मोह मेरे ऊपर भी आ गया। उसके हाथ पकड़ते ही एक अजीब तरह की गुदगुदी से शरीर रोमांचित हो गया। मैंने भी मुस्किराते हुए कहा—"तुमने इतना कहा था, और मैं न आता, यह भी कभी संभव था।"

उसने मेरी ओर एक लज्जा-भरी दृष्टि निक्षेप करके कहा—"ख़ैर, आपकी मेरे ऊपर इतनी दया तो है। आइए, चलें, कमरे में बैठें।" यह कहकर वह एक तरह से मुझे घसीटते ही हुए कमरे में ले गई।

आज वह कमरा न था, जिसमें मुझसे रानीजी से मुलाक़ात हुई थी। आजवाला केतकी का निज का कमरा था। मुझे ले जाकर उसने पलंग पर बिठा दिया, और स्वयं मेरे बग़ल में बैठ गई।

न-मालूम एक तरह का कैसा भाव मेरे मन में आया। मैं सिहिर उठा। तो क्या सचमुच प्रलोभन है? मैंने उठते हुए कहा—"आज मुझे तुम कहाँ ले आईं। कल तो मैं इस कमरे में नहीं आया था।"

उसने मेरा हाथ पकड़कर बिठाते हुए कहा—"यह आपकी दासी का कमरा है। क्या यहाँ पर बैठने में कुछ हर्ज है?" यह कहकर वह मुस्किरा दी।

मैं फिर सिहिर उठा। मैंने फिर उठने की चेष्टा करते हुए कहा—"नहीं, लेकिन रानीजी कहाँ हैं? मैं उन्हीं से मिलने आया हूँ। कल जा रहा हूँ, इसीलिये आया हूँ कि मिल आऊँ, शायद कल वक्त मिले न मिले।"

उसकी कटीली आँखों में आँसू छलछला आए। उसने कहा—"तो क्या तुम रानीजी से ही मिलने आए हो। मुझसे नहीं।"

मैंने दृढ़ स्वर में कहा—"हाँ।"

उसने अपनी आँखों के आँसुओं को अंचल से पोछते हुए कहा—"रानीजी तो नही हैं, आज आरती देखने गई हैं। सभी गई हैं, केवल मैं नहीं गई, इसलिये कि तु आओगे।"

मैंने कहा—"तो मैं जाता हूँ, रानीजी से कह देना कि मैं आया था।"

उसने एक आह-भरी चितवन से मेरी ओर देखकर कहा—"तो जाओगे, चले ही जाओगे, तनिक देर भी नहीं बैठोगे। बैठो, मेरे सामने बैठो, मैं कुछ नहीं चाहती, तुम्हें मैं सिर्फ देखना चाहती हूँ। जब से तुम्हें देखा है, तुम्हें प्यार करने लगी हूँ। तम झूठ मानो चाहे, लेकिन मैं सत्य कहती हूँ कि मैं तुम्हें प्यार करती हूँ। प्यारे, नाराज मत हो। यों

मेरी ओर न देखो। तुम मेरे आराध्य हो, और मैं तुम्हारी दासी।"

यह कह उसने मेरे पैरों पर अपना सिर रख दिया। उसके आँसुओं की धार मेरे पैरों को भिगोने लगी। मैं थोड़ी देर तक निस्तब्ध खड़ा रहा। मैं उस समय अपने होश में न था। मैंने उसे उठाकर अपने वक्षःस्थल से लगा लिया। उसने भी अपना मुख मेरी छाती में छिपा लिया। मैं उसके बंधन-हीन कुंतल-दामों पर हाथ फेरने लगा।

हाय रे मनुष्य की कमज़ोरी! तूने मनुष्य को क्यों इतना कमज़ोर बनाया।

मैंने धीरे-धीरे उसके मुख को अलग करते हुए कहा—"केतकी, बैठो, शांत हो। कोई देख लेगा, तो क्या कहेगा? रानीजी ही कहीं आ गईं, तो क्या होगा?"

हाय रे पापी मनुष्य! तुझे मनुष्य का इतना भय है!

केतकी ने और ज़ोर के साथ चिपटते हुए कहा—"कोई न आवेगा, कोई न देखेगा। देख लेगा, तो कोई क्या कर लेगा? मैं तुम्हें न छोड़ूँगी। तुम्हें प्यार करती हूँ। न छोड़ूँगी।"

मैंने उसको अलग करते हुए कहा—"केतकी, पागल न बनो। मेरी बात भी तो सुनो। आओ, हम-तुम बैठकर बातें करें।"

केतकी मुझे घसीटकर पलंग के पास ले आई, उस पर मुझे बिठाकर स्वयं नीचे बैठ गई, और कहा—"कहो प्यारे, क्या कहते हो। मैं सब सुनूँगी।"

मैंने कहा—"पहली बात तो यह है केतकी कि मैं विवाहित हूँ। मेरे स्त्री है, और मेरे साथ है। मैं उससे कोई बात नहीं छिपाता। गोया अभी तक मैंने यहाँ के आने का हाल उससे नहीं कहा, लेकिन आज सब कह दूँगा। दूसरे, तुम भी स्वतंत्र नहीं हो, रानी की कृपा पर निर्भर हो। मैं तुम्हारा भरण-पोषण का भार नहीं ले सकता, क्योंकि मेरे पास इतने साधन नहीं हैं। तीसरे, अभी तुम नवयुवती हो, हमारे-तुम्हारे संबंध को संसार पाप-दृष्टि से देखेगा, और वास्तव में पाप है ही, मैं कहीं का न रहूँगा। चौथे, तुम्हारे साथ संबंध रखने से मेरी स्त्री को कष्ट होगा, और उसके साथ विश्वासघात करना होगा, जो मुझे स्वीकार नहीं है। इन्हीं सब बातों से अच्छा होगा कि हममें और तुममें कुछ संबंध न हो।"

मेरी बातें सुनकर केतकी ने मेरे पैरों पर अपना सिर रख-कर कहा—"तुम अपनी स्त्री से कुछ न छिपाओ, उसके साथ विश्वासघात न करो। मैं स्वयं अमीर हूँ, मुझे धन की जरूरत नहीं है। रानीजी कभी मुझे नहीं हटा सकतीं, उन्हें मालूम ही नहीं होगा। आपकी स्त्री मेरी बड़ी बहन हैं। उनसे कोई बात न छिपाओ। मैं तुमसे कुछ नहीं चाहती, अगर चाहती हूँ, तो यह कि रोज़ एक-दो घंटे के लिये आकर दर्शन दे जाया करो। इसके सिवा मुझे और किसी चीज़ की चाह नहीं है। तुम्हें देखकर ही सब कुछ पा जाऊँगी। प्राणेश्वर, प्रियतम !"

मैंने कहा—"लेकिन रानीजी क्या कहेंगी, जब मैं रोज़-रोज़ यहाँ आया करूँगा।"

केतकी ने आँखें नीचे किए हुए कहा—"उनको सब मालूम है, इसीलिये वह यहाँ आज नहीं हैं। उन्होंने मुझे अवसर दिया है कि जिसमें मैं तुम्हारा प्रेम पा सकूँ, तुम्हें बता सकूँ कि मैं तुम्हें कितना प्यार करती हूँ।"

मैंने किंचित् भय-विह्वल कंठ से कहा—"तो रानीजी को सब मालूम है।"

केतकी ने हँसते हुए कहा—"हाँ, उन्हें सब मालूम है। मैंने सब कह दिया है।"

मैंने आश्चर्य के साथ कहा—"कैसी रानी हैं ?"

केतकी ने हसते हुए कहा—"बड़ी दयावान्! जब उन्होंने सुना, पहले तो मुझ पर नाराज़ हुईं, लेकिन जब मैंने अपनी असमर्थता प्रकट की, तब हारकर इजाज़त दे दी। बोलो प्राणेश्वर, तुम इस अभागिनी को छोड़ तो नहीं दोगे ? मैं तुम्हारे लिये सब छोड़ सकती हूँ। क्या तुम मेरे लिये ज़रा-सा त्याग नहीं कर सकोगे ?"

मैंने धीरे-धीरे कहा—"लेकिन मैं तो यहाँ सर्वदा नहीं रह सकता। छुट्टियाँ ख़तम हो जाने पर मुझे लौट जाना पड़ेगा।"

केतकी ने कहा—"नहीं, मैं तुम्हें कहीं न जाने दूँगी। तुम्हें नौकरी न करनी होगी। रानीजी से कह-सुनकर तुम्हें २००) रुपए महीने दिला दिया करूँगी। तुम्हें सिर्फ़ कुछ देर

तक कभी-कभी उनकी लड़कियों को गाना सिखला देना पड़ेगा। बस, इतना ही करना पड़ेगा। बोलो, स्वीकार है ?"

मैंने कुछ उत्तर न दिया। अपना भविष्य सोचने लगा।

केतकी ने कहा—"मेरी बहन से यह सब हाल कहना, अगर वह संतुष्ट नहीं, तो फिर मैं दूसरा इंतज़ाम करूँगी। मैं उनके पास जाऊँगी, उनसे कहूँगी कि मैं तुम्हारा धन तुमसे छीन नहीं लेना चाहती, और न कभी छीनूँगी, लेकिन तुम्हारे धन को रोज़-रोज़ मैं देखना चाहती हूँ। मेरा उस पर अधिकार यद्यपि कुछ नहीं है, लेकिन तुममें दया की कमी नहीं है, और यह एक तुच्छ प्रार्थना ज़रूर सुनेंगी। जब उनके पैरों पर सिर रखकर रोऊँगी, तब भी क्या वह नहीं मानेंगी।"

फिर मैं चुप रहा, कोई उत्तर न दिया। वह धीरे-धीरे उठकर मेरे पास बैठ गई। अपना सिर मेरे कंधे पर रख दिया, और अधखुली पलकों से मेरी ओर देखने लगी। फिर उसने धीरे-धीरे कहा—"क्या सोच रहे हो प्रियतम ?"

मैंने हँसने की चेष्टा करते हुए कहा—"कुछ नहीं, यही सोच रहा हूँ कि एक ही दिन में मेरे जीवन में कितना बड़ा अंतर हो गया। कल तक कुछ और था, और आज कुछ और हो गया।"

केतकी ने अपना सिर मेरी गोद में रखते हुए कहा—"प्यारे, कुछ न सोचो, तुम्हें छोड़ूँगी नहीं। तुम्हें छोड़ने का जी नहीं होता। इतने सुंदर तुम क्यों हुए, और फिर इतना कठोर हृदय लेकर कैसे आए ?"

मैंने कहा—"केतकी !"

केतकी ने मेरी ओर देखा। उसकी दृष्टि से प्रेम उमड़ा पड़ता था।

केतकी ने मुझे आवेग से आलिंगन कर लिया।

(४)

कहते हैं, दुखी को घर में शांति मिलती है, लेकिन यह बात कहाँ तक ठीक है, मैं नहीं जानता। मैं घर आया, और सिर पर एक बड़ा भारी बोझ लेकर आया। केतकी का रूप मुझे घसीट रहा था, और इधर कर्तव्य और धर्म—उधर तृष्णा और इधर प्रेम ! उधर लालसा और इधर अनुराग ! उधर आसक्ति और इधर स्नेह ! कहा जाऊँ ? मैं स्वयं नहीं जान सका। मैं पागलों की भाँति झूमते हुए घर आया। उसने मेरी ओर एक हरी दृष्टि डालकर कहा—"आज ऐसे झूमते हुए क्यों आ रहे हो ? कहीं क्या आज छान आए हो ?"

हाय ! हिंदू-घर की भोली रमणी ! तुझे कैसे मालूम हो सकता है कि तेरा स्वामी कौन-सा भयानक पाप-कर्म कर आया है।

मैंने उन्मत्त की भाँति बढ़कर उसे अपने आलिंगन-पाश में बद्ध करते हुए कहा—"बोलो, तुम मुझे प्यार करती हो ?"

वह चौंक पड़ी। उसने मेरी ओर एक अजीब तरह से देखा। उस दृष्टि में तिरस्कार था। उसने किंचित् शुष्क स्वर में कहा—"आज यह कैसी बात ? हैं, तुम्हारे मुख से दुर्गंध

कैसी ! तुम शराब पी आए हो ? शराब पीकर मेरे पास आए हो ?"

मैंने और अधिक बल से उसे आबद्ध करते हुए कहा—"बोलो, तुम मुझे प्यार करती हो ?"

उसने क्रोध से अपना मुख फेरते हुए कहा—"मैं एक शराबी को प्यार नहीं कर सकती।"

मैंने उसे छोड़ दिया। उसके मुख की ओर देखते हुए कहा—"अगर तुम एक शराबी को प्यार नहीं कर सकतीं, तो मैं उसके पास जाऊँगा, जो एक शराबी को अपने सिर-माथे पर बिठावेगी, जो मुझे जान से बढ़कर प्यार करेगी। मैं जानता था कि तुम मुझे प्यार करती हो, लेकिन मेरी भूल थी, जो मैं यह समझता था। ख़ैर, आज वह भ्रम दूर हो गया। अब मैं स्वतंत्र हूँ। स्वाधीन हूँ। किसी तरह का भार मेरे ऊपर नहीं है। कोई कर्तव्य नहीं है। जो मुझे प्यार ही नहीं करता, उसके प्रति कर्तव्य कैसा ? तुमने आज मुझे मुक्ति दी, इसके लिये मेरे आंतरिक धन्य-वाद ग्रहण करो।" मैं और कुछ कहना चाहता था, लेकिन गला सूखने के कारण नहीं कह सका। मैं सुराही से पानी ढालकर पीने लगा। वह मेरी ओर एकटक देखती रही, किंतु उसने कोई उत्तर न दिया। पाषाण-प्रतिमा की भाँति सुनती रही।

पानी पीकर फिर स्वस्थ हो गया। नशे का झोंका फिर

सिर पर सवार हुआ। तैश में कहने लगा—"सुनो, आज से मैंने पाप-मार्ग की ओर अग्रसर होना शुरू किया है। मैं जानता हूँ कि यह पाप-मार्ग है, लेकिन अपने को रोक नहीं सकता। मेरा पतन इतनी शीघ्रता से हुआ कि मैं कह नहीं सकता। अभी चार घंटे पहले मैं बिलकुल पवित्र था, पाप-कीट का प्रवेश नहीं हुआ था, किंतु इन्हीं चार घंटों में मेरे में बहुत अंतर आ गया है। मैं अब शराबी, मतवाला, विश्वासघातक और क्या कहूँ, सब कुछ हो गया हूँ। पाप करने के पहले मैं जानता था, यह पाप है, किंतु प्रलोभन, इतने ज़बरदस्त प्रलोभनों ने अपनी ओर घसीटना शुरू किया कि मुझमें वह शक्ति नहीं रह गई थी, जिससे मैं पाप-पुण्य का विचार कर सकता। मैं उनकी ओर बढ़ा, और बढ़ा एकबारगी। मैं चरित्र के ऊँचे शिखर पर से फिसला, और फिसलकर गिरा एकदम से उस पाप के भयानक कालिमामय गड्ढे में, जहाँ से अब निकलना असंभव है। पाप कर चुकने के बाद मेरी सद्बुद्धि वापस आई, मैं मन-ही-मन पछताने लगा। मैं वहाँ से भागा। इस आशा से भागा कि यहाँ आकर शांति मिलेगी। तुमसे निष्कपट सब हाल कह दूँगा, तुम मुझे क्षमा करोगी। अपने प्रेम की प्रगाढ़ छाया से, अपने प्रेम के दृढ़ कवच से ढक-कर मेरी रक्षा करोगी। लेकिन अब वह आशा निराशा में परिणत हो गई। सोचा था, अब और पाप न करूँगा। लेकिन अब मुझे बरबस ही अपनी इच्छा के विरुद्ध पाप-

मार्ग की ओर अग्रसर होना पड़ेगा। मैं जानता था कि तुम मेरी रक्षा करोगी, लेकिन तुमने मेरी रक्षा से अपना हाथ खींच लिया। अब मेरे लिये एक ही मार्ग खुला हुआ है, वह है पाप-मार्ग। वह मुझे आह्वान कर रहा है—मैं उसी ओर जाऊँगा, जहाँ मेरी इच्छा पूर्ण होगी, जहाँ मुझे सुख मिलेगा, आदर मिलेगा, वहीं जाऊँगा। तुमने मुझे शराबी कहकर तिरस्कार किया है, मेरे आलिंगन को उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखा है, इसलिये मैं अब जाता हूँ।"

मेरे आवेश में शिथिलता आ रही थी। पैर काँप रहे थे, स्वर भर्रा रहा था। नेत्रों से अग्नि निकल रही थी। मैं विवश हुआ जा रहा था। तंद्रा—एक अपूर्व प्रकार का आलस्य, जिसमें गुदगुदी भी थी, और थकावट भी थी, जिसमें आनंद भी था, और कुछ कष्ट भी था—आ रही थी। नेत्र मुँदे जा रहे थे। मैं लड़खड़ाता हुआ पलंग के पास पहुँचा, और उसी पर पड़ गया। फिर नहीं जानता, उसके बाद क्या हुआ।

उसी निद्रा में मैंने स्वप्न देखना शुरू किया—मानो एक बड़ा मनोरम स्थान है। झाड़ियाँ और निकुंज बड़ी सुंदरता से काट-छाँटकर बनाए गए हैं। तरह-तरह के फूल फूले हैं। मैं उसी में भ्रमण कर रहा हूँ। एक झाड़ी से एक बड़ा विकराल काला साँप निकला। वह मेरी ओर बढ़ा। मैं भागा, वह साँप भी मेरे पीछे-पीछे हो लिया। कुछ दूर जाकर किसी ने मेरा नाम लेकर पुकारा। मैंने पीछे फिरकर देखा।

सर्प न था, लेकिन केतकी दौड़ी चली आ रही थी। उसने आते ही मुझे हृदय से लगा लिया। मैंने भी आवेश से उसे आलिंगन-पाश में बाँध लिया। किंतु ज्यों ही उसके मुख की ओर देखा, झिझका और हटा, वह केतकी न थी—यह वही सर्प था। अपनी लाल-लाल जिह्वा निकालकर बड़ी जोर से फुफकार मारी, और मुँह बढ़ाकर काट लिया। उसके काटते ही मैं गिर पड़ा। पैर फटफटाने लगा। मेरी नींद उचट गई। लेकिन सचमुच मैं पैर फटफटा रहा था। कमरे में अंधकार था। मैं शांत होकर चारपाई टटोलने लगा। वह न थी। धीरे-धीरे उठकर पुकारा—"जागती हो या सो गई?"

कोई उत्तर न मिला। मैंने फिर कहा—"जरा लैंप जलाओ तो। सुनती हो या नहीं।" फिर भी कोई उत्तर नहीं। मन-ही-मन खीझता हुआ उठा। लैंप जलाया, देखा, वह खाली जमीन पर लेटी हुई है। अपना मुख घूँघट से ढाँक लिया है। मैं थोड़ी देर तक देखता रहा कि देखूँ कोई आहट जागने की मिलती है या नहीं। मेरा गला सूखा जा रहा था, एक गिलास पानी पीकर धीरे-धीरे उसके पास आकर बैठ गया। मैंने उसके पुट्ठे पर हाथ रखते हुए कहा—"जागती हो या सो गई? सुनो।"

जागने का कोई लक्षण न देख पड़ा। मैंने अब की बार जोर से हिलाते हुए कहा—"उठो। इतनी देर से बुला रहा हूँ, सुनती ही नहीं!"

फिर भी कोई उत्तर नहीं, और न उठने का कोई आसार देख पड़ा। मैंने अब की बार हँसते हुए कहा—"अगर सीधी तरह से न जागोगी, तो एक घड़ा पानी डाल दूँगा।"

पहले जब कभी वह इसी तरह सोने का ढोंग रचती, तो मैं यही कहकर उसकी सारी मिथ्या नींद भगा दिया करता था, मेरी इस बात से वह हँसती हुई उठकर बैठ जाया करती थी, और कुछ अजब ख़फ़गी से कहा करती थी—"पानी-आनी न डालना, कहो, क्या कहते हो?" लेकिन आज उसने बड़े ही रुक्ष स्वर में कहा—"आप भी सोएँ जाकर, और मुझे भी सोने दीजिए। कृपा करके मुझे अधिक तंग न करें।"

मैं यह सूखा उत्तर सुनकर, संकुचित होकर रह गया। मेरे सारे हर्षावेग पर उसने ठंडा पानी डाल दिया।

मैं कुछ देर तक स्तब्ध रहा, फिर उसको प्रेम से उठाते हुए कहा—"मेरा अपराध क्षमा करो। भूल हरएक से होती है। मैं अब भी बिगड़ा नहीं हूँ, तुम्हारा सहारा पाने से सुधर जाऊँगा। मुझसे एक भूल हो गई, क्या इसके लिये क्षमा नहीं?"

उसने अभिमान से कहा—"मैं आपको क्षमा करनेवाली कौन हूँ, जहाँ आपको आदर मिले, स्नेह मिले, प्रेम मिले, शांति मिले, सुख मिले, वहाँ जाइए। जो आपको सुहाग दिखाकर रिझावे, वहाँ जाइए। मैंने तो कह दिया कि मैं एक शराबी से प्रेम नहीं कर सकूँगी, तो बस, फिर आपको गरज़ मुझसे?

आप ही ने अभी कहा था कि तुमने मुझे स्वतंत्र कर दिया है। जाइए, आप मुक्त हैं। जो मन में आवे, करिए। आपसे मुझको ऐसी आशा न थी। मुझे बड़ा अभिमान था कि मेरे स्वामी के पास ये दुर्गुण कभी भूलकर नहीं पास फटक सकते, क्योंकि वह मेरे स्वामी हैं। लेकिन आज वह अभिमान, वह गर्व चूर-चूर हो गया। आपने मेरे हृदय में वह तेज छुरा भोंक दिया है, जिसका घाव भरने में समय लगेगा। आप विद्वान् हैं, पढ़े-लिखे हैं। आपकी सद्बुद्धि, आपका कर्तव्य, आपका धर्म जो करने को कहे, वही करिए। अभी तक जब आपको अपने हृदय के सबसे गुह्य स्थान में छिपाकर रक्खा, तब तो आप छिपकर भाग ही निकले, अब आपकी मैं कैसे रक्षा कर सकती हूँ ? जिस प्रकार से पतन की ओर आप स्वयं अग्रसर हुए हैं, वैसे ही पीछे लौटिए। एक बार फिर वैसी ही निष्पाप मूर्ति लेकर आइए, तब मैं आपको प्यार कर सकती हूँ, नहीं तो, विधाता की इच्छा। आपका पतन होगा, मेरी मृत्यु होगी। मौत ही की अब चाह है। मुझे मरने में ही सुख है। मैं मरूँगी, और मरना ही पड़ेगा।"

यह कहकर वह रोने लगी। मुझ पर उसका उलटा असर हुआ। उसकी तीखी और विष-भरी बातों ने मेरे हृदय को जलाकर खाक कर दिया। मैं मन-ही-मन ताव-पेच खा रहा था। मैं तो आया मनाने, न कि यह विकट अभिमान सहने—ऐसी जली-कटी और ऐसे विषमय व्यंग्य सुनने !

मैंने ग़ुस्से से कहा—"तुम्हें इतना अभिमान है ! अभिमान है अपने रूप का ! मुझे तुम्हारी-जैसी बँदरियाँ बहुत मिलेंगी। अगर मरना ही है, तो मरो, जल्दी मरो, पाप छूटे।"

मैं ग़ुस्से से आग होता हुआ आकर चारपाई पर लेट गया। मैं चुपचाप पड़ा रहा। वह भी चुप पड़ी रही। उसने न कुछ और कहा, और न मैंने। मैं उसको मिलान केतकी से करने लगा। केतकी सुंदरी थी, और उससे अगर अधिक नहीं, तो कम भी नहीं। केतकी में एक अपूर्व मादकता थी, एक मतवालापन था, एक अल्हड़पन था, एक गुदगुदी पैदा करने-वाली अजीब चीज़ थी, जो उसमें न थी। केतकी के वंकिम कटाक्षों में और उसके कटाक्षों में जमीन-आसमान का भेद था। यह भी चंचल थी, लेकिन वैसी नहीं, जैसी केतकी। केतकी मेरी आँखों में बड़ी सुंदर देख पड़ने लगी। मैं एक ही दिन में सब कुछ खो बैठा। जिसके प्रेम पर मुझे अभिमान, वह भी खो दिया। मैं नहीं जानता कि मैं क्या हो गया। मैं उस घड़ी को कोसने लगा, जिस घड़ी रानीजी के यहाँ गया था। विधाता को कोसने लगा, और अंत में कोसने लगा उसको। एक ही दिन में मैंने अपने को शैतान के हाथों में सौंप दिया ! वह दिन कैसा था—कितना भयानक था ! मैं अब सिहिर उठता हूँ। मैं अपना भविष्य सोचते-सोचते सो गया।

(५)

मैंने उसको दूसरे ही दिन छोटे भाई के साथ कानपुर भेज

दिया। उसने मुझे भी साथ चलने को कहा, लेकिन मैंने यह कहकर टाल दिया कि अभी मुझे यहाँ काम है, तुम दोनों जाओ। रामनाथ और मेरी स्त्री दोनों चले गए। जाते समय वह मुझसे मिलने तक न आई। मैं भी मिलने न गया। मैं बैठा हुआ था। वह जानेवाली थी कि इतने में रामनाथ ने आकर एक लिफ़ाफ़ा मेरे हाथ में लाकर रख दिया। मैंने पूछा—"कहाँ से आया है ?"

रामनाथ ने कहा—"भाभी ने दिया है।"

मैंने गंभीर मुद्रा से कहा—"अच्छा, जाओ।"

रामनाथ चला गया। मैंने खोलकर पढ़ा। उसने केवल दो लाइनें लिखी थीं। वे ये थीं—"अगर आपको कभी किसी ऐसे की आवश्यकता आ पड़े, जो आपको सांत्वना दे सके, अगर आपको कभी अपने किए पर पश्चात्ताप हो, अगर कभी आपका यह मोह टूट जाय, और आपको किसी ऐसे की आवश्यकता हो, जो आपको सुपथ की ओर ले जाय, तो मुझे एक बार याद कीजिएगा। यदि जीवित रही, तो आपको सहायता दूँगी, नहीं तो......बस। क़लम रुकी जाती है।"

नीचे कोई नाम न था। मैं उस पत्र को पढ़कर एक श्लेष की हँसी हँसा। फिर उसे मरोड़कर खिड़की से बाहर फेंक दिया।

जब वह जाने लगी, तब मैं उठकर खिड़की के पास आकर

खड़ा हो गया। वह धीरे-धीरे आकर गाड़ी पर सवार हुई। गाड़ी चल दी। उसने सिर निकालकर मेरी ओर एक दृष्टि-भर देखा, और फिर अपना मुँह छिपा लिया। मैंने उसी एक नज़र में देख लिया, उसकी आम की फाँक-जैसी आँखों में आँसू भरे हुए थे। उन आँसुओं को देखकर मेरा मन द्रवित हो गया। मेरा मन मुझे धिक्कारने लगा। मैं बड़ी देर तक हतबुद्धि-सा खड़ा रहा। किंतु केतकी की मद-भरी मूर्ति नयनों के सामने आते ही सब पश्चात्ताप दूर हो गए। केतकी, केतकी मेरे लिये सब कुछ हो गई।

मैं रुका नहीं। तनिक भी विचलित न हुआ। पाप की ओर बढ़ता ही गया। जब तक मैं केतकी के पास रहता, तब तक मुझे आराम मिलता, और जहाँ उससे वियोग होता, वहीं पर नाना प्रकार की भावनाएँ मुझे घेर लिया करतीं। कभी उसकी याद आती, और कभी केतकी का सुंदर मनमोहन रूप आँखों के सामने नाचने लगता। जब मैं जाता, तब केतकी भी सब भूलकर मेरे साथ रहती। केतकी बजाती, मैं गाता, और कभी मैं बजाता, और केतकी गाती। मैंने रानीजी की दो कन्याओं को गान सिखाने का भार ले लिया था।

रानीजी ने देखते हुए भी न देखा। उन्होंने कुछ भी आपत्ति प्रकट न की, बल्कि सहर्ष गान सिखाने का भार मेरे ऊपर दे दिया। उनकी दोनों लड़कियाँ केतकी के कमरे में ही मुझसे पढ़ने आया करती थीं। एक घंटे बाद

वे चली जातीं, तब केतकी और मैं रह जाता। केतकी मुझे छोड़कर एक पल-भर न जाती थी। जब तक मैं रहता, तब तक केतकी मेरे पास रहती। कभी-कभी रानीजी स्वयं उसके कमरे में आकर हम दोनो से बातें किया करतीं। केतकी की सहेलियाँ, जो वास्तव में केतकी की तरह ही वहाँ रहा करती थीं, कभी-कभी आतीं, और तब हम सबों में ख़ूब हँसी-मज़ाक़ होता, छेड़खानियाँ होतीं, हँसी के फ़व्वारे छोड़े जाते, चुटकियाँ कसी जातीं। हँसी की ध्वनि से कमरे गूँज जाते। सब मिलकर जब मुझे बनातीं, तब केतकी मेरा पक्ष ग्रहणकर मेरी लज्जा दूर करने का यत्न करती। केतकी को मैं सचमुच प्यार करने लगा था, और शायद केतकी भी मुझे प्यार करती थी।

एक दिन हम और केतकी दोनो बैठे हुए थे। हम दोनो में प्रेमालाप हो रहा था। सहसा केतकी ने दोनो हाथ मेरे गले में डालकर कहा—"आज मेरी एक बात मानोगे? बोलो।"

मैंने आवेश के साथ कहा—"कहो केतकी! मैंने कौन-सी तुम्हारी बात नहीं मानी है?"

केतकी ने और प्यार प्रकट करते हुए कहा—"आज 'चपला' रानीजी के यहाँ आई थी।"

मैंने पूछा—"कौन चपला?"

केतकी ने मधुर हँसी हँसते हुए कहा—"अरे, चपला—चपला को नहीं जानते! कलकत्ते की मशहूर रंडी।"

मैंने कहा—"तो रानीजी के यहाँ क्यों आई थी ?"

केतकी ने कहा—"ऐसे ही आई थी। रानी के यहाँ यह पहले नौकर थी। शायद मिलने आती होगी।"

मैंने पूछा—"अच्छा, आई थी फिर ?"

केतकी ने अपना मुख और समीप करते हुए कहा—"आज तक मैंने तुमसे कोई चीज़ नहीं माँगी, आज माँगती हूँ। देने को कहो, तो मैं कहूँ। नहीं तो फ़िज़ूल में ज़बान डालने से फ़ायदा ?"

मैं अपना अस्तित्व भूला जा रहा था। मैंने जोश के साथ कहा—"केतकी, तुम जो माँगोगी, वह सब मैं दूँगा। मेरी जान माँगो, वह भी तुम्हारे ऊपर न्योछावर है। जो चाहो, सो मिलेगा। अगर अभी तक तुमने नहीं माँगा है, तो यह तुम्हारी भूल थी, और मेरी भी ग़लती थी, जो मैंने कुछ नहीं दिया।"

केतकी ने एक मनमोहन कटाक्ष-सहित कहा—"मैं तुम्हें प्यार करती हूँ। मेरा प्रेम बाज़ारू प्रेम नहीं है। मैंने तुमसे पहले ही कह दिया था कि मैं स्वयं अमीर हूँ, लेकिन आज तुमसे एक प्रेमोपहार पाने की इच्छा है, इसीलिये ऐसा कह रही हूँ।"

मैंने अधीर होकर कहा—"कहो भी तो।"

केतकी मेरे पास से उठकर कमरे की मेज़ के पास चली गई। वहाँ से एक सुंदर केस लिए हुए आई, और उसको खोलते हुए कहा—"ऐसा चंद्रहार मुझे तुम ले दो।"

मैंने चंद्रहार को हाथ में लेकर देखा। चंद्रहार लैंप के प्रकाश में चमक उठा। मुझे वह बड़ा क़ीमती जान पड़ा। मैंने धीमे स्वर में पूछा—"इसकी क़ीमत कितनी है ?"

केतकी मेरे पास आकर बैठ गई। मेरे गले में हाथ डालते हुए कहा—"सिर्फ़ पच्चीस सौ।" मैं क़ीमत सुनकर मन-ही-मन सिहर उठा। मेरे पास इतनी रक़म न थी।

केतकी ने मेरे मन का भाव ताड़कर साभिमान कहा—"रहने दो। लाओ, रख दूँ। जिसकी चीज़ है, उसे वापस कर दूँगी। मेरे भाग में पहनना बदा नहीं है।"

मैंने मन-ही-मन झेंपकर कहा—"वाह! तुमने कैसे जाना, तुम्हारे भाग में पहनना बदा नहीं है। मैं चाहे जैसे हो, तुम्हें लेकर पहनाऊँगा।"

केतकी ने फिर मेरे गले में हाथ डालकर कहा—"तुम्हें कष्ट होगा, रहने दो। न पहनने से कुछ हर्ज थोड़े ही है। मैं तुम्हें दुखी नहीं देख सकती।"

मैंने आवेश के साथ कहा—"मैं तुम्हें ज़रूर पहनाऊँगा। लाओ, देखूँ।"

केतकी ने सप्रेम मेरे कपोलों पर एक प्रेम-चिह्न अंकित कर दिया। मैंने कह तो दिया कि मैं दूँगा, लेकिन मुश्किल आ पड़ी कि दूँ कहाँ से। मेरे पास उस समय रुपया न था। घर से इतनी बड़ी रक़म कैसे मँगा सकता था। सोचते-सोचते मेरे ख़याल में आया कि उसके कुछ गहने मेरे पास ही पड़े हुए हैं।

उनमें कुछ मरम्मत करवानी थी, इसीलिये उसने उन्हें मेरे पास डाल दिया था। मैं उस दिन उदास मन से घर लौटा।

घर आकर देखा, मेरे घर के पुराने दीवानजी बैठे हुए हैं। मैं इन्हें 'मामा' कहा करता था। मैंने हँसते हुए कहा—"कहिए मामा साहब, क्या आपको भी तीर्थ-यात्रा की सूझी?"

मामा ने भी हँसते हुए कहा—"जब तुम-जैसे नौजवान तीर्थ-यात्रा करके पुण्य कमाए लेते हैं, तब हम बूढ़ों को हवस क्यों न हो। बड़ी मालकिन से बाहर जाने की इच्छा प्रकट की, उन्होंने इजाज़त दे दी। सोचा कि कहाँ जाऊँ। पहले काशी जाऊँ, प्रयाग जाऊँ, या मथुरा-वृंदावन। फिर मुझे खयाल आया कि अभी तक तुम मथुरा में ही हो, चलो वहीं ही हो आऊँ।"

मैं मामा की चतुरता ताड़ गया। उसने सब हाल मेरी मा से कह दिया है। मा ने मुझे दो-तीन पत्र लिखे थे कि चले आओ, लेकिन मैंने हमेशा बहाने बनाकर टाल दिया था। अब दीवानजी मुझ पर पहरा देने आए हैं। मैंने हँसते हुए कहा—"अच्छा किया, चलिए भीतर।"

बग़ैर कुछ कहे-सुने मामा मेरे साथ हो लिए।

मैंने अपना ट्रंक खोलकर उसके गहने बाहर किए।

गहनों के बेचने से १५००) के लगभग आ सकता था। उस समय ५००) के क़रीब मेरे पास थे, अब कमी आ पड़ी ५००) रुपयों की। इनका कहाँ से प्रबंध हो।

मैंने मामा के पास जाकर कहा—"मामा, आप कितना रुपया साथ लेकर चले थे?"

मामा ने मेरी ओर प्रश्न-भरी दृष्टि से देखकर कहा—"क्यों?"

मैंने सिर खुजलाते हुए कहा—"मुझे कुछ रुपयों की जरूरत है। तीन-चार दूकानदारों को देना है। आज मैं सोच ही रहा था कि घर को लिखूँ, लेकिन मेरी क़िस्मत से आप ही आ गए।"

मामा ने पूछा—"कितने रुपयों की जरूरत है?"

मैंने लापरवाही से कहा—"यही कोई ५००) होने से काम चल जायगा।"

मामा ने कहा—"५००) रुपए! मेरे पास इतने नहीं हैं। दो-तीन सौ हैं।"

मैंने कुछ सोचते हुए कहा—"तीन सौ ही दे दीजिए।"

मामा ने कहा—"अच्छा, तो फिर कल देंगे।"

मैंने कहा—"जैसे आज वैसे कल। देना हो, तो दे दीजिए।"

मामा ने कहा—"तुम्हारा बड़ा लंबा ख़रच हो गया है! पहले तो तुम ऐसे नहीं थे।" मामा ने बड़ी मुश्किल से तीन सौ रुपए दे दिए। अब चिंता रह गई शेष दो सौ की।

दूसरे दिन २३००) रुपए ले जाकर केतकी को देते हुए कहा—"यह लो केतकी, तुम चंद्रहार मँगा लेना।"

केतकी ने आश्चर्य के साथ मेरी ओर देखा। फिर कहा—"यह क्या!"

मैंने शुष्क हँसी हँसते हुए कहा—"अपने चंद्रहार के दाम।"

केतकी ने कहा—"मैंने तो कहा था कि मुझे चंद्रहार की ज़रूरत नहीं है, फिर क्यों ये रुपए ले आए! क्या मैंने रुपए माँगे थे! अगर तुम्हारी इच्छा हो, तो स्वयं चंद्रहार लेकर मुझे पहना दो, मैं रुपए नहीं लूँगी।"

मैंने रुपए रखते हुए कहा—"लो, यह २३००) हैं, शेष दो सौ का एक-दो रोज़ में मैं प्रबंध कर दूँगा। अभी मेरे पास इतने ही हैं, घर से मँगा कर दे दूँगा। तुम मँगा लो, और पहन लो।"

केतकी ने सादर बिठाते हुए कहा—"ये कहाँ से लाए?"

मैंने कहा—"चाहे जैसे लाया हूँ, तुम्हारी साध तो बाक़ी नहीं रक्खी। जैसे तुम अपना सब कुछ भेंट करने में न हिचकिचाईं, फिर मैं तुम्हारी एक तुच्छ साध भी न पूरी करूँ, भला कैसे हो सकता है!" केतकी ने कुछ उत्तर न दिया।

उस दिन जब मैं घर लौटा, तो मामा ने कहा—"तुम कहाँ गए थे?"

मैंने सकपकाते हुए उत्तर दिया—"यों ही ज़रा घूमने।"

मामा ने गंभीरता-सहित कहा—"आज घर से चिट्ठी आई है, उसमें लिखा है कि बहू बीमार है। तुम्हें बुलाया है, और मुझे भी आने को लिखा है। मेरा तीर्थ भी न हो सका।"

मैंने मन-ही-मन कहा—"यह नहीं कहते कि मुझे लिवाने आए हैं, यहाँ आकर उल्टी-सीधी समझाते हैं।" प्रकाश में कहा—"तो आप चले जाइए, मेरा जाना तो हो नहीं सकता।"

मामा ने ताज्जुब-भरी नज़रों से देखते हुए कहा—"यह कैसी बात ? तुम्हारी बहू बीमार और तुम न जाओगे ! जब से यहाँ से गई है, तभी से बीमार है। जब मैं आया था, तभी बीमार थी, लेकिन हालत इतनी शोक-जनक न थी, अब, मालूम होता है, हालत अबतर है।"

मैंने कहा—"इलाज तो होता है, फिर मेरे जाने से फ़ायदा ? कुछ मैं अच्छा तो कर नहीं दूँगा ?"

मामा ने उत्तर दिया—"हाँ, इलाज बराबर होता है, लेकिन तुम्हारे जाने से कुछ और ही बात है।"

मैंने कहा—"अच्छा, देखा जायगा।"

दूसरे रोज़ मामा चले गए, और चले गए मुझ पर नाराज़ होकर। मैंने कुछ भी परवा नहीं की। केतकी के आगे एक मामा क्या, पचास मामा त्याज्य हैं। मैं उस समय पागल हो गया था। मैंने क्षण-भर को नहीं सोचा कि वह बीमार है। पहले जब कभी ज़रा-सा सिर में दर्द होता, तो मैं अधीर हो जाता, और आज वह बीमार है, लेकिन मैं गया नहीं। मेरे हृदय को कुछ ज़रा-सा धक्का लगा ज़रूर, लेकिन वह थोड़ी ही देर में ठीक हो गया। वह बीमार है। दवा होती है। अच्छी हो जायगी। चिंता की कौन-सी बात ! भगवन्, तूने

मनुष्य को इतना अपदार्थ क्यों बनाया ! मनुष्य बड़ा कमज़ोर है। अबूझ है, और है अंधा।

(६)

जो मनुष्य जितनी ही जल्दी जिस चीज़ को पाता है, उतनी ही जल्दी उसका मन उससे ऊब जाता है। यह संसार का एक बड़ा सीधा और सरल नियम है। केतकी का जी अब मुझसे ऊब-सा उठा। अब वह मेरे पास वैसे प्रेम से न बैठती, न वैसी बातें करती। उस प्रकार से जी खोलकर न हँसती। सदा छिटकी-छिटकी रहती। अब मुझे देखकर उसके मुख पर हास्य की रेखा नहीं दौड़ती थी। बल्कि उसका मुख भारी हो जाता। उसको मेरा आना खलता। और, साथ-ही-साथ मेरे मन में भी परिवर्तन हो रहा था। यद्यपि मैं जाता रोज़ ही, लेकिन वह जोश, वह हौसला, वे इच्छाएँ लेकर नहीं, जो लेकर मैं पहले जाया करता था। कभी मेरे दिल में भी होता कि हटाओ, मारो गोली, लेकिन जो नियम बँध गया था, उसी मारे मैं जाया करता। इन दिनों में केतकी ने मुझसे कई फ़रमाइशें की थीं, और सभी बहुमूल्य, लेकिन मैंने उन्हें जिस तरह पूरा किया, वह मैं ही जानता हूँ। हाँ, कल का व्यवहार मुझे खटक रहा था। कल केतकी को मैंने एक दूसरे नवयुवक के साथ बातें करते देखा था। मैं नहीं जानता कि वह कैसे आया। मुझे देखकर केतकी कुछ झिझकी, लेकिन फिर मेरी ओर हँसते हुए कहा—"आइए, आइए ! यह

बाबू साहब आज तुम्हारी तरह गाना सुनने चले आए थे।" मैं जाकर धीरे-धीरे बैठ गया, और फिर थोड़ी देर बाद चुपचाप उठकर चला आया। जब मैं जीने से उतर रहा था, तब केतकी के कमरे से हँसने का विकट शब्द सुनाई पड़ा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो केतकी और वह नवागंतुक दोनो ख़ूब जी खोलकर हँस रहे हैं। आज मैं ये ही सब बातें साफ़-साफ़ कहने के लिये आया था। मैं केतकी के कमरे में घुसा। केतकी बैठी हुई थी। मेरी ओर उसने देखकर भी न देखा। मैंने सप्रेम पुकारा—"केतकी !"

केतकी चौंक पड़ी। उसने रुक्ष स्वर में कहा—"क्या है ?"

कलवाली बात फिर मेरे मन में ताज़ी हो गई। मैंने मन का दमनकर पूछा—"कल कौन आया था ? वह सज्जन कौन थे ?"

केतकी ने उत्तर दिया—"यहाँ के वह बड़े धनी हैं। नाम है उनका परमानंद। उनकी कल से मैं नौकर हो गई।"

मैंने आश्चर्य के साथ कहा—"तुमने नौकरी कर ली !"

केतकी ने कहा—"हाँ, क्या करूँ ! तुमसे कुछ आशा है ही नहीं। जब तक मुझमें यौवन है, तब तक तुम मेरे साथ हो, और जहाँ इसका ह्रास हुआ, वहाँ तुम भी चल दोगे। अपनी बुढ़ाई के लिये तो कुछ इंतज़ाम करना होगा। तुमसे कोई चीज़ माँगो, फ़ौरन् मुँह लटक जाता है। तुम ग़रीब हो, तुम मेरा भार नहीं ग्रहण कर सकते।

जब मैंने यह देखा, तब क्या करूँ, मुझे दूसरा उपाय करना पड़ा।"

उसकी एक-एक बात मेरे दिल में चुभ गई। मैंने किंचित् शुष्क स्वर में कहा—"मैंने कब तुम्हारी इच्छा पूर्ण नहीं की? जो तुमने माँगा, वही दिया, तुमने पहले मुझे पाप में घसीटा, और जब मैं डूब गया, तब स्वयं भागी जाती हो।"

केतकी ने सतेज कहा—"मैंने तुम्हें कभी नहीं घसीटा, तुम स्वयं घसिट आए। अगर तुम चरित्र के ठीक होते, तो मैं क्या हज़ारों केतकी तुम्हें पथभ्रष्ट न कर सकती थीं। तुमने स्वयं पैर बढ़ाए, इसमें मेरा कुछ दोष नहीं है।"

मैंने अब अपनी ग़लती समझी। मैंने कहा—"तो तुम मुझसे अपना सब संबंध तोड़ रही हो।"

केतकी ने कहा—"वह तो तुम्हीं समझ सकते हो। जब मैंने दूसरे की नौकरी कर ली है, तब भला कैसे किसी दूसरे की हो सकती हूँ।"

मैंने कुछ व्यंग्य से कहा—"तो यही तुम्हारा प्रेम था।"

केतकी ने हँसते हुए कहा—"हम लोगों में क्या कभी प्रेम होता है। अगर कभी प्रेम की-सी कुछ भावना होती है, तो वह मोह होता है, तृष्णा होती है, लालसा होती है, क्षणिक आसक्ति होती है। हम लोग नहीं जानतीं कि प्रेम किस चिड़िया का नाम है। प्रेम का ढोंग ज़रूर जानती हैं, लेकिन प्रेम नहीं।" यह कहकर वह ज़ोर से हँस दी।

मैंने मन-ही-मन चिढ़कर कहा—"तो तुम क्या वेश्या हो?"

केतकी ने साश्चर्य देखकर कहा—"अभी तक तुम यह भी न जान पाए! नहीं जानते कि यह वेश्याओं का अड्डा है।"

मैंने और आश्चर्य के साथ पूछा—"और रानीजी!"

केतकी ने हँसते हुए कहा—"रानी! कहाँ की रानी। वह हम लोगों की मा हैं। हम सबों को वह अपने फ़न में ठीक कर रही हैं। चपला हम लोगों की बहन है, वह पास हो गई। पास का सार्टिफ़िकेट लेकर कलकत्ते चली गई। अब मैं भी शीघ्र ही कहीं जानेवाली हूँ।"

मैं अब अपने ग़ुस्से को सँभाल न सका। बड़े ग़ुस्से से कहा—"तो यह सब तुम लोगों की दग़ाबाज़ी थी। रानीजी महज़ एक नक़ली रानी थीं।"

केतकी ने हँसते ही हुए कहा—"और नहीं तो क्या सच-मुच। तुमको इतनी अक़्ल न थी कि सोचते कि अगर सच-मुच रानी होतीं, तो एक परिचारिका के प्रेमी के हाथ अपनी दो लड़कियाँ सौंप देतीं, और वह सब देखती हुई भी कुछ न कहतीं। भगवान् ने तुम्हें इतनी भी बुद्धि नहीं दी।"

यह कहकर वह हँस दी। उसकी हँसी मेरे घावों पर नमक छिड़क रही थी। मैंने तैश में कहा—"केतकी!"

केतकी ने जवाब दिया—"जनाब, यहाँ पर लाल-पीली आँखें न कीजिए। मैं नहीं सह सकती। दिखाइए जाकर अपनी उस साध्वी घर की लक्ष्मी को, जिसको मेरे लिये ठुकरा दिया

था। जो आदमी तुच्छ रूप के लिये अपनी परिणीता को छोड़ सकता है, भला कब संभव है कि वह मेरा सदा बना रहेगा। तुम्हें देखकर मेरे मन में कुछ इच्छा हुई थी। जो आग जली थी, वह अब शांत हो गई। अब तुमसे मेरा कुछ संबंध नहीं है। अब आप अपना रास्ता देखिए, और मैं अपना। बस, आदाब-अर्ज़ है बाबू शिवनाथ सिनहा साहब।"

मैं कुछ न कहकर उठ खड़ा हुआ, और अपनी मूर्खता पर सोचता हुआ चला आया।

घर आकर दो-तीन दिन तक तमाम बातें सोचता रहा। उसके पास जाने में लज्जा से मेरा सिर नीचा हुआ जा रहा था। सोचता कि कौन-सा मुँह लेकर जाऊँ। अब उसके सामने कैसे चार आँखें कर सकूँगा।

एक रोज़ मैं ये ही सब बातें सोच रहा था कि एकाएक एक तार आ पहुँचा। तार खोलकर पढ़ा। लिखा था—"जल्दी आओ। बहू की तबियत बहुत ख़राब है।" अब मेरे पास सोचने-विचारने का समय न था। उसी वक़्त बोरिया-बँधना बाँध स्टेशन को रवाना हो गया।

तमाम रास्ते में मुझे चैन न मिली। रास्ते-भर यही सोचता आया कि उसे मैं देख पाऊँगा या नहीं। बार-बार अपने को धिक्कारता कि मैं ही उसकी मृत्यु का कारण होऊँगा। अगर, ईश्वर न करे, वह चल बसी, तो मा को कैसे मुँह दिखाऊँगा। मामा क्या कहेंगे? इसी प्रकार की चिंता में डूबा

मैं अधीरता से कानपुर-स्टेशन को देख रहा था। आख़िर वह दिखाई दिया। मेरी जान में कुछ जान आई। स्टेशन से बाहर निकलकर, ताँगे पर सवार होकर, घर का पता बताकर जल्दी से ले चलने को कहा।

घर पहुँचकर देखा, सभी जगह सन्नाटा छाया हुआ है। मेरे प्राण सूख गए। मैंने व्यस्तता से घर के अंदर घुसते हुए पुकारा—"रामनाथ!"

मेरी मा ने व्यस्तता से दरवाज़े खोलकर कहा—"कौन? मन्ना!"

मेरा घर का नाम मन्ना ही है।

मैंने प्रणाम करते हुए कहा—"हाँ, मैं ही हूँ?"

मा मुझे देखकर रो पड़ी। मेरे प्राण और सूख गए।

मैंने व्यग्रता से पूछा—"कैसी तबियत है?"

मा ने कुछ उत्तर न दिया। मैंने फिर पूछा—"सब लोग तो अच्छे हैं?"

मा ने कहा—"तुम्हीं जाकर देखो।"

मैं तेज़ी से आगे बढ़ा। पीछे से मामा ने पुकारकर कहा—"उस कमरे में मत जाना, बहू सो रही है, तुम्हारे जाने से जाग पड़ेगी, तबियत फिर ख़राब हो जायगी।"

मैं रुक गया। मेरे जान में जान आई। मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया। चलो, अभी वह ज़िंदा तो है। मैं अपने कमरे में घुसा। वहाँ जाकर, कपड़े वग़ैरह उतारकर बैठा ही था कि

मामा हाथ मे हुक्का लिए आ पहुँचे। मुझसे कहने लगे—"कहो, तीर्थ-यात्रा समाप्त हो गई?"

मैंने विरक्ति-पूर्ण स्वर में कहा—"हाँ, अब कैसी तबियत है मामा!"

मामा ने गंभीर होकर कहा—"आज कुछ ठीक नहीं है। कब मर जाय, हालत तो मरने के क़रीब है। आज दिन-भर सब्र करो, कल सबेरे देखना। डॉक्टर ने आज एक दवा दी है, जिससे नींद आ जाय। इसी नींद पर सब मुनहसिर है। अगर नींद टूट गई, तो सब ख़त्म, और नींद आ गई, तो बस अच्छी हो जायगी।"

मैंने पूछा—"रोग कौन-सा है?"

मामा ने सिर खुजलाते हुए कहा—"भाई, मुझे वह सब अँगरेजी नाम याद नहीं है। न-मालूम क्या बताया टाइट-पाइट, आइट-पाइट, क्या जानें।"

मैंने कहा—"टायफाइड तो नहीं।"

मामा ने कहा—"होगा, भाई वही। हम क्या जानें।"

मामा उठकर चले गए। मैं भी दूसरे कार्य में लगा। मेरे सिर पर से एक बोझ उतर गया।

* * *

मैं शाम को ही खा-पीकर चारपाई पर लेट गया। पड़ते ही नींद आ गई। कुछ देर तक बड़े आराम से सोता रहा। स्वप्न देखा कि वह चारपाई पर बैठी हुई पैर दाब रही है।

उसने मेरे सब अपराध क्षमा कर दिए हैं। स्वप्न देखते-देखते मैं जाग पड़ा। देखा, सचमुच वह बैठी हुई मेरे पैर दाब रही है। मैं उठ बैठा। मुझे विश्वास न हुआ। मैं अब भी सोच रहा था कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। मैंने आश्चर्य के साथ कहा—"कौन तुम ?"

उसने मेरे पैरां पर अपना सिर रखते हुए कहा—"हाँ, मैं; मेरा अपराध क्षमा करो।"

मैंने उठाकर सप्रेम उसे कंठ से लगाते हुए कहा—"तुमने मेरे अपराध क्षमा कर दिए ?"

वह मेरी ओर देखकर मुस्किराई—"हाँ, कर दिए। वे प्रलोभन थे, तुम प्रलोभनों में फँस गए थे। मैं जानती थी कि तुम्हारा मन कुछ दिनों में ऊब जायगा, तुम फिर मेरे हो जाओगे। संसार ही प्रलोभनमय है। तुम्हारा दोष नहीं।"

यह कहकर वह मुस्किरा दी।

कुछ श्रेष्ठ उपन्यास

मा

(द्वितीयावृत्ति)

श्री० विश्वंभरनाथजी कौशिक की प्रभावशालिनी क़लम की शक्ति को कौन नहीं जानता। हिंदू-समाज की व्याधियाँ उनकी क़लम में क़ैद रहा करती हैं। वह उनका जैसा भाग्य-निर्णय कर डालते हैं, हिंदी के दूसरे लेखक वैसा बहुत कम कर पाते हैं। उन्हीं कौशिकजी की क़लम का यह उपन्यास एक चमत्कार है। लखनऊ की रंडियों की, वहाँ के ख़ूबसूरत अमीरज़ादों की और गुंडों की, चौक की तंग गलियों में रहनेवाली ख़ानगियों की अगर देखना चाहते हों वे मीठी रंगरलियाँ कि जिनके लिये लखनऊ इतना मशहूर है, यदि आप देखना चाहते हैं कि मा का अनुचित लाड़-चाव किस प्रकार पुत्र के पतन का एक भयंकर मार्ग हो जाता है, तो अवश्य इस अत्यंत मनोरंजक उपन्यास को पढ़िए। दूसरी ओर यदि आप देखना चाहते हैं कि एक दृढ़-चित्त माता के उपदेशों से ग़रीबी में भी पला हुआ एक नौजवान कैसा सच्चरित्र निकलता है, वह कैसे अपने रंडीबाज़ भाई और बहनोई का उद्धार करता है, किस प्रकार रंडियों को भी ठिकाने लगाता है, तो अवश्य इस उपन्यास को

पढ़िए । आईने से भी साफ़ चरित्र-चित्रों की यह गैलरी आपको बरसों याद रहेगी । एक बार इसे देखिए तो । मूल्य ३), सजिल्द ४)

बिदा

(द्वितीयावृत्ति)

लेखक, श्रीयुत प्रतापनारायण श्रीवास्तव बी० ए०, एल्-एल्० बी० । यह बिलकुल अप-टू-डेट, शिक्षाप्रद, मौलिक, सामाजिक उपन्यास है । इस उपन्यास का कथा-प्रसंग इतना मनो-रंजक है कि एक बार पुस्तक हाथ में लेने से फिर बिना समाप्त किए जी नहीं मानता, और पढ़कर भी पुनः पढ़ने की लालसा बनी रहती है । भाषा-सौष्ठव और भाव-व्यंजना के साथ-साथ चरित्र-चित्रण भी इतना ग़ज़ब का हुआ है कि एक-एक चरित्र आँखों के सामने आकर बायस्कोप का मज़ा दिखाता है । मा का चित्र तो अद्वितीय ही हुआ है—यहाँ तक कि दावे के साथ कहा जा सकता है कि अभी तक हिंदी क्या, तमाम भारतीय भाषाओं के किसी उपन्यास में नहीं हो सका है । अनरूपादेवी की "मा" से भी कहीं बढ़कर हुआ है । निर्मल का चरित्र भी एक पहेली-सा है, लेकिन वह भी बहुत ऊँचे उठा है । और चपला, चपला का उत्सर्ग, चपला का निस्स्वार्थ प्रेम लेखक की ग़ज़ब की कल्पना का नमूना है । कुमुदिनी एक साधारण गर्विणी स्त्री है, लेकिन उसका भी चरित्र एक नूतनता लिए हुए

है। केट-उपनाम मिस स्मिथ का चित्र मनोमुग्धकारी है। लज्जा एक आदर्श भारतीय नव-वधू का चित्र है। पुरुष-चित्रों में भी माधव बाबू और मिस्टर वर्मा का चित्र बड़ा ही मनोरंजक हुआ है। लेखक ने अपनी कल्पना-शक्ति से नई रोशनीवालों की प्रिय 'डाइवोर्स'-प्रथा के भयंकर परिणाम का आभास-मात्र दिया है, और यह बतला दिया है कि डाइवोर्स की प्रथा भारत-ऐसे देश में काम में नहीं लाई जा सकती। प्रत्येक उपन्यास-प्रेमी तथा सुधारों के पक्षपाती को यह उत्कृष्ट उपन्यास अवश्य पढ़ना चाहिए। पुस्तक में चार सुंदर चित्र भी दिए हैं। छपाई-सफ़ाई, काग़ज़ आदि की सुंदरता के लिये तो कार्यालय का नाम है ही, ४०५ पृष्ठों से भी अधिक पोथे का मूल्य केवल २॥), सजिल्द ३)

हृदय की परख

(तृतीयावृत्ति)

लेखक, हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक प्रोफ़ेसर चतुरसेनजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य। भला ऐसा कौन हिंदी-साहित्य-सेवी होगा, जो शास्त्रीजी की चित्ताकर्षक रचनाओं से परिचित न हो। शास्त्रीजी ने उपन्यास लिखने में कमाल कर दिया है। आपने इस उपन्यास में मनुष्य के विचारों को बड़े ही उत्तम ढंग से अंकित किया है। यह उपन्यास अब तक के प्रकाशित हिंदी-उपन्यासों में बहुत उच्च स्थान रखता है। इसकी उत्कृष्टता का तो यही

प्रमाण है कि थोड़े ही दिनों में इसका तीसरा संस्करण हो गया है। मूल्य १), सजिल्द १॥)

हृदय की प्यास

(द्वितीयावृत्ति)

लेखक, हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक प्रोफ़ेसर चतुरसेन शास्त्री आयुर्वेदाचार्य। भला कौन ऐसा हिंदी-साहित्य-सेवी है, जो शास्त्रीजी की क़लम का क़ायल न हो। शास्त्रीजी गद्य-काव्य के लिये आचार्य माने ही जाते हैं, पर साथ ही इन्होंने उपन्यास लिखने में भी कमाल कर दिया है। आपने इस उपन्यास में जिस ढंग से मनुष्य के विचारों का संघर्षण कराया है, चरित्रों के चित्र खींचे हैं, उसे देखकर हमें दृढ़ विश्वास है कि यह उपन्यास अब तक के लिखे हुए मौलिक, सामाजिक उपन्यासों में बहुत श्रेष्ठ है। रूप के मोह-पाश में फँसा हुआ, असंयमी, भावुक मित्र समाज में क्या-क्या अनर्थ कर बैठता है, इसका चित्र इस उपन्यास में जिस ढंग से खींचा गया है, वह पढ़ते ही बनता है। भावमयी भाषा, सुंदर शैली, सरल और सुबोध रचना का यह सर्वोत्तम नमूना है। मित्रता के लक्षण, सौंदर्य की विषमता, शंका की सत्यता, तज्जनित द्वेष और डाह, उसका दुष्परिणाम ही नहीं, वरन् आधुनिक शिक्षा से उत्पन्न सौंदर्योपासना, अविवेक और मतिभ्रम तथा पूर्व-संस्कार के कारण कर्तव्य-परायणता और पश्चात्ताप इसमें पढ़ते ही बनता है। गार्हस्थ्य जीवन क्योंकर

सुखी हो सकता है, आजकल के नवयुवक उसे क्यों नरक-तुल्य समझते हैं, घर की लक्ष्मी को छोड़कर कूड़े-कर्कट की ढेरी पर क्यों दृष्टि गड़ाते रहते हैं इत्यादि जीवन के कतिपय जटिल प्रश्नों का शास्त्रीजी ने बड़ी ख़ूबी और योग्यता के साथ समाधान किया है। यह सब होते हुए भी इसका प्लॉट ऐसी ख़ूबी से रचा गया है कि उपन्यास को एक बार हाथ में लेने पर क्या मजाल कि आप खाना-पीना न भूल जायँ, और उसे समाप्त किए बिना छोड़ दें। एक बार इसको मँगाइए, और स्वयं पढ़िए, अपनी गृहिणी को भी पढ़ाइए। ६ रंगीन और सादे चित्रों से सुशोभित इस अमूल्य पुस्तक का मूल्य केवल २), सजिल्द २॥)

ख़वास का ब्याह

लेखक, हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक प्रोफ़ेसर चतुरसेनजी शास्त्री। शास्त्रीजी की लेखन-शैली उनके उपन्यासों में ख़ूब गठी हुई रहती है। यदि आप इनकी शैली को उत्कृष्टता की सीमा पर देखना चाहते हों, तो इनकी अभी-अभी प्रकाशित इस रचना को पढ़िए। यह उपन्यास चंदबरदाई-कृत 'पृथ्वीराज-रासो' के आधार पर लिखा गया है। पृथ्वीराज तथा संयोगिता की प्रेम-कथा इस उपन्यास का विषय है। इसमें आपको प्राचीनता के साथ नवीनता भी मिलेगी, और घटना-वैचित्र्य के साथ एक सुंदर, सरस, उछलती तथा वेगवती और गुदगुदी उत्पन्न कर देनेवाली शैली भी। इसे अवश्य पढ़िए। यह

उपन्यास सर्वथा पठनीय और हिंदी-साहित्य में नवीन है। एक रंगीन चित्र भी। मूल्य केवल १), सजिल्द १॥)

अप्सरा

लेखक, श्रीपं० सूर्यकांतजी त्रिपाठी 'निराला'। निरालाजी के इस उपन्यास-रत्न ने हिंदी-संसार में एक हलचल मचा दी। उपन्यास-लेखन की नई शैली, [illegible]ए भाव और नए चरित्र-चित्रण के कारण एक नया ही युग पैदा कर दिया है।

पुस्तक एक बार हाथ में लेने से छोड़ने का [illegible] नहीं चाहता। मूल्य १), १॥)

अलका

निरालाजी अप्सरा लिखकर बड़े-बड़े आलोचकों की दृष्टि में उच्च आसन प्राप्त कर चुके हैं। अब इन्हीं की लौह लेखनी से निकली इस अलका का भी अवलोकन कीजिए। पुस्तक में चरित्र-चित्रण तो देखते ही बनता है। भाषा की रोचकता, भावों की नवीनता, विषय का सुंदर चुनाव, ये सब बातें आपको एक ही स्थान पर मिल जायँगी। मूल्य १), १॥)

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार ३६, लाटूशरोड, लखनऊ